Katha Aalochna Aur surendra chaudhary

कथा-आलोचना और सुरेन्द्र चौधरी

A Dissertation submitted during 2015 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of degree of

MASTER OF PHILOSOPHY

In

HINDI

ASHUTOSH KUMAR PANDEY

Department of Hindi

School of Humanities

University of Hyderabad

Central University, Gachibowli

Hyderabad – 500046

India

DECLARATION

I **ASHUTOSH KUMAR PANDEY** hereby declare that this Dissertation entitled **"KATHA AALOCHNA AUR SURENDRA CHAUDHARY " (कथा-आलोचना और सुरेन्द्र चौधरी)** submitted by me under guidance and supervision of **Pro. Gajendra kumar pathak** is a bonafide research work. I also declare that it has been submitted previously in part or in full to this University or Institution for the award or any Degree or Diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in Shodhganga/ INFLIBNET.

Date : **30-06-2015**

Name : **ASHUTOSH KUMAR PANDEY**

Signature of the student :

Regd. No. **14HHHL16**

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation entitled "**KATHA AALOCHNA AUR SURENDRA CHAUDHRY"(कथा-आलोचना और सुरेन्द्र चौधरी**) submitted by **ASHUTOSH KUMAR PANDEY** bearing Regd. No- **14HHHL16** in partial fulfillment of the requirements for the award of Master of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by her under my supervision and guidance which is a plagiarism free dissertation.

The dissertation has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any Degree or Diploma.

Signature of Supervisor

Head of the Department

Dean of the School

विषय-सूची

भूमिका

1. हिन्दी कथा-आलोचना की विकास-यात्रा 11

2. प्रगतिशील आंदोलन में कथा-आलोचना की दशा और दिशा और सुरेन्द्र चौधरी का योगदान 35

3. नयी कहानी आंदोलन में कथा-आलोचना की दशा और दिशा और सुरेन्द्र चौधरी का योगदान 47

4. सुरेन्द्र चौधरी की कथा-आलोचना के मान-दंड 58-95

(क) कथा-संरचना

(ख) कथा के पाठ

(ग) रूप और अंतर्वस्तु

(घ) स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज तथा हिन्दी कथा संसार का समाजशास्त्रीय अन्तर्सम्बन्ध

(च) उत्तर औपनिवेशिकता और समकालीन हिंदी कहानी

उपसंहार 96

सहायक-ग्रन्थ सूची 100

भूमिका

जब कोई शोधार्थी किसी भी शोध विषय का चयन करता है तो उसके मानसपटल पर उस शोध विषय की पृष्ठभूमि रहती है। ऐसे में हिंदी कथा आलोचना और विशेषकर सुरेन्द्र चौधरी के सन्दर्भ में अपने विषय का चयन करते समय मेरे मस्तिष्क में हिंदी कथा आलोचना की सामान्य पृष्ठभूमि थी। रही बात हिंदी कथाओं की तो भारतीय भूभाग के हर क्षेत्र में कोई न कोई ऐसा कथाकार जरूर रहा है जिस कथाकार से जनमानस शैशवावस्था में ही परिचित हो जाता है। इसी तरह हिंदी कथा साहित्य में प्रेमचंद और कुछ ऐसे कथाकार रहे हैं जिनसे हम लोगों का साबका शैशवावस्था में ही हो जाता है लेकिन यह परिचय बहुत हद तक कथा के पाठ से आह्लादित और परीक्षा पास होने तक ही रहता है। मेरा भी परिचय हिंदी कथाओं से ऐसा ही रहा है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में परास्नातक के दौरान पाठ्यक्रम में निहित उदय प्रकाश की कहानी 'मोहनदास' और शिवमूर्ति की कहानी 'तिरिया चरित्तर' ने मेरी पर गहरा संवेदना असर डाला और खासकर इनके पात्र– 'मोहनदास' (मोहनदास) और 'विमली' (तिरिया चरित्तर) ने झकझोर दिया। ऐसे में मैं हिंदी कथाओं में अंतर्निहित संवेदनाओं से परिचित हुआ। इन (और अन्य भी) कहानियों को पढ़ते और उनके समाज से जुड़ाव को देखते हुए इनकी आलोचना से भी मैं परिचित होने की कोशिश करता रहता था। क्योंकि आलोचना में रुचि मेरी संस्थानिक दुनिया (परास्नातक) में कदम रखते ही हो गई थी। इसके पीछे एक बहुत ही सीमित समझ जो आज भी एक सीमा तक बनी हुई है वह यह कि आलोचना व्यक्ति को समाज और रचना से जोड़ने का कार्य करती है जो बाद में हिंदी के अधिकांश आलोचकों और आलोचना की पुस्तकों से भ्रामक सिद्ध हुआ।

इसी पृष्ठभूमि में 'कथा आलोचना और सुरेन्द्र चौधरी' एम. फिल. हेतु शोध विषय का चयन किया गया। कथा आलोचक सुरेन्द्र चौधरी से मेरा परिचय परास्नातक के उपरांत शोध

हेतु 'हिंदी कहानी आलोचना में वाद-विवाद' विषय (किन्ही कारणों से शोध नहीं कर पाया) पर शोध प्रस्ताव बनाने के दौरान उनकी पहली पुस्तक 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' से हुआ । इस पुस्तक को मैं प्रथम पाठ में समझ नहीं पाया । इस पुस्तक का अध्ययन करने से पहले नामवर सिंह की कहानी की आलोचनात्मक पुस्तक 'कहानी : नई कहानी' को मैं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण (जो आज भी है) पुस्तक मानता था।

हिंदी कथा आलोचना के विकास पर विचार करने से पहले प्रसंगवश मैं अपने इस लघु शोध-प्रबंध की सीमा को इंगित करना मुनासिब समझूँगा । वह सीमा यह है कि कथा-आलोचना से मेरा मतलब कहानी और उपन्यास दोनों विधाओं की आलोचना से है । परन्तु, सुरेन्द्र चौधरी की उपलब्ध पुस्तकों में कहानी आलोचना पर बल और समय की अल्पता को देखते हुए इस लघु शोध प्रबंध में केवल कहानी आलोचना पर ही विचार किया जा सका है । अब हिंदी कथा आलोचना के विकास पर विचार करते वक्त एक चीज़ तो स्पष्ट कर लेना चाहिए कि हिंदी कथा आलोचना को व्यवस्थित रूप देर से प्राप्त हुआ । कथाओं पर छिट-पुट विचार तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इतिहास पुस्तक से शुरू हो चुका था । लेकिन यह आलोचना कुछ दूसरे तरह की थी । इसमें सबसे पहले यह खोजने का प्रयत्न किया गया कि कौन-सा उपन्यास या कौन-सी कहानी पहली, दूसरी, तीसरी है । उसके बाद डॉ. रामविलास शर्मा ने उपन्यासों और कहानियों खासकर प्रेमचंद के उपन्यासों और कुछ कहानियों की आलोचना विषय-वस्तु को ध्यान में रख कर की। हिंदी कहानी आलोचना की वास्तविक शुरुआत 60 के दशक से हुई। यह शुरूआत 1955 में नामवर सिंह द्वारा 'कहानी' पत्रिका में धारावाहिक रूप में लिखित लेखों से होती है जिसको पुस्तकाकार रूप 1965 में (कहानी : नई कहानी के रूप में) मिला । इन लेखों का पुस्तकाकार रूप ग्रहण करने से पहले 1963 में सुरेन्द्र चौधरी की

कहानी आलोचना से संबधित पुस्तक 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' प्रकाशित हो चुकी थी । इसमें कहानियों की आलोचना में सैद्धांतिक और व्यवहारिक पक्ष को आधार बनाया गया है।

सुरेन्द्र चौधरी के आलोचना कर्म पर जब हम विचार करते हैं तो उनकी एक बात हमारे जेहन में आती है जिसको उन्होंने अपने एक लेख 'मेरे आलोचक का जन्म' में लिखा है – "निश्चित ही मेरा अत्यंत संवेदनशील मार्गों से मेरा प्रशिक्षण हो रहा था। सन् 1955-56 में मैं नामवर जी के व्यक्तिगत सम्पर्क में आया मेरे वर्तमान का निर्माण उनके हाथों हुआ है। वैसे कई व्यवहारिक मुद्दों पर मैं उनकी कार्य-प्रणाली से अलग भी रहा हूँ। मैंने उन दिनों गया को वैचारिक हलचलों का केंद्र बना रखा था।" चौधरी जी गया के रहने वाले थे। वह आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के छात्र थे। उनका वामपंथी विचारधारा से दुराव किसी से छिपा नहीं था। वैसे में सुरेन्द्र चौधरी जैसे प्रखर मार्क्सवादी और गहरी सांकृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक समझ वाले आलोचक के उभार के अपने मायने हैं जिसका भान 'गया को वैचारिक हलचलों का केंद्र बनाने' से होता है। गया जैसे छोटे शहर में अनेक महत्त्वपूर्ण वैचारिक गोष्ठियों का आयोजन करना बहुत मुश्किल कार्य तब भी था और आज भी है। 2009 से पहले उनकी एक ही पुस्तक 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' से ही हम परिचित थे। 2009 में युवा आलोचक उदयशंकर ने उनके विभिन्न लेखों को संग्रहित और सम्पादित करके उनके आलोचना के व्यापक परिदृश्य से हिंदी जगत को रूबरू कराया। इन लेखों के संग्रह को तीन खंडो में विभक्त किया गया है। तीनों खंड क्रमशः- 'इतिहास संयोग और सार्थकता', 'हिंदी कहानी रचना और परस्थिति' और 'साधारण की प्रतिज्ञा अँधेरे से साक्षात्कार' हैं। प्रथम खंड में एक आत्मकथ्य (मेरे आलोचक का जन्म) के साथ विचारधारा, संस्कृति और इतिहास से सम्बंधित आलेखों को संकलित किया गया है, दूसरा खंड एक लम्बी बातचीत (डा. सुरेन्द्र चौधरी, डा.परमानन्द श्रीवास्तव, डा. रमेश उपाध्याय, डा. खगेन्द्र ठाकुर, डा. शम्भुनाथ)

'कहानी का वर्तमान परिदृश्य' के अलावा नई कहानी की रचना प्रक्रिया, कहानी का विचारधारा से जुड़ाव, कहानी और समाज के साथ-साथ प्रेमचंद, मुक्तिबोध, रेणु और अमरकांत के कथा संसार पर विचार किया गया है। तीसरे खंड में उपन्यास, कविता, कहानी, उपन्यासों की समीक्षाएँ और भाषा से सम्बंधित लेख संकलित हैं। इन लेखों के आधार पर चौधरी जी की गहरी आलोचना दृष्टि से हम मुखातिब होते हैं।

कथा आलोचना और उसके विविध आयामों को लेकर बहुत सारे शोध कार्य संस्थानिक दुनिया में हुए हैं। लेकिन सुरेन्द्र चौधरी और कथा आलोचना पर मेरी जानकारी में यह प्रथम लघु शोध कार्य होना चाहिए। हाँ श्री उदयशंकर ने जरूर 'सुरेन्द्र चौधरी की आलोचना दृष्टि' विषय पर जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय, दिल्ली से लघु शोध किया है।

इस लघु शोध-प्रबंध को चार अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय 'हिंदी कथा आलोचना की विकास यात्रा' है। इस अध्याय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर 90 के दशक तक की कथा आलोचना पर विचार किया गया है। इसमें कथा के मनोरंजन से लेकर अस्मितावादी आन्दोलनों तक की कथाओं के संदर्भ में विद्वानों के मतों के आधार पर अपना तर्क प्रस्तुत करते हए विश्लेषित किया गया। इसके अलावा विद्वानों द्वारा कहानियों के मूल्यांकन से सम्बंधित विवादों को भी तर्कों के सहारे परखा गया है। आवश्कता पड़ने पर कहानियों के अंश भी उद्धृत किए गए हैं।

दूसरे अध्याय 'प्रगतिशील आन्दोलन में कथा आलोचना की दशा और दिशा और सुरेन्द्र चौधरी' में इस दौर के कहानीकारों की कहानियाँ और आलोचकों की आलोचना दृष्टि को रेखांकित करने की कोशिश की गई है। इन कथाकारों की महत्त्वपूर्ण कहानियों को उस दौर की यथास्थिति को देखते हुए विश्लेषित करने का भी प्रयत्न किया गया है।

तीसरा अध्याय 'नई कहानी आन्दोलन में कथा-आलोचना की दशा और दिशा और सुरेन्द्र चौधरी', जिसमें इस दौर के महत्त्वपूर्ण आलोचकों द्वारा विभिन्न कहानीकारों की कहानियों से सम्बंधित विवादों को परखकर उन कहानियों को मूल्यांकित करने और उस दौर की सामाजिक, राजनीतिक हलचलों को ध्यान में रख कर उसका विश्लेषण कर उसके प्रभाव को रेखांकित किया गया है।

चौथे अध्याय को पाँच उपअध्यायों में विभाजित कर सुरेन्द्र चौधरी की कथा आलोचना के विभिन्न पक्षों को उद्धृत करने की कोशिश की गई है। इसमें यह दिखाने का भी प्रयत्न किया गया है कि कथाओं की आलोचना में सुरेन्द्र चौधरी कौन सी पद्धति का प्रयोग करते हैं।

उपसंहार में 'हिंदी कथा आलोचना में सुरेन्द्र चौधरी का योगदान' को रेखांकित करने के साथ उनके महत्त्व को भी रेखांकित किया गया है।

कथा आलोचना की जब भी बात आती है तो कुछ शिल्पगत कथा आलोचना, समीक्षात्मक कथा आलोचना से सबंधित पुस्तकों और तथ्यात्मक पुस्तकों को परिगणित कर हम कथा आलोचना को उठते गिरते देखते रहते हैं। ऐसे में सुरेन्द्र चौधरी ने कथा की आलोचना कथाओं के सामाजिक जुड़ाव के आधार पर की। इन्होंने कथा के पाठकों को रेणु और अमरकांत जैसे कथाकारों की कथाओं की सही व्याख्या कर उनके महत्त्व को स्थापित किया जो पहले के आलोचकों के यहाँ हाशिये पर भी नहीं थे।

प्रस्तुत शोध कार्य में शोध की विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग करते हुए शोधकार्य को निश्चित आकार दिया गया है।

इस शोध कार्य को सम्पन्न करने के लिए मैं अपने शोध-निर्देशक प्रो. गजेन्द्र कुमार पाठक का आभारी हूँ जिन्होंने मेरे जैसे लापरवाह शोधार्थी से यह कार्य सम्पन्न कराया। इनके अलावा इस शोधकार्य के दौरान समय-समय महत्त्वपूर्ण सुझाव के लिए मैं श्री प्रियम अंकित और श्री उदयशंकर का भी आभारी हूँ।

मैं अपने समस्त सहपाठी मित्रों जिन्होंने सायास और अनायास इस शोध कार्य को सम्पन्न करने के लिए हौसला अफजाई किया। राजन विरूप, प्रियंका जी, कुमार सौरभ, इमरान खान, बिद्युत सागर, प्रियंका, चन्दन तिवारी और विशाल जिनके कार्यालयी सलाह से लेकर इस विषय पर चर्चाएँ होती रहीं। अपने कुछ अमूर्त साथियों को भी विशेष तौर पर धन्यवाद ज्ञापित करूंगा। जिनके बिना यह कार्य अधूरा होता।

आशुतोष कुमार पाण्डेय

पहला अध्याय

हिंदी कथा-आलोचना की विकास-यात्रा

हिंदी कथा आलोचना पर विचार करने के क्रम में जो प्रश्न सबसे पहले विचारणीय है वह यह है कि कथा क्या है ? अगर साहित्यिक विधा के रूप में इस पर विचार किया जाये तो साहित्य के दो रूप हैं । गद्य साहित्य और पद्य साहित्य । लेकिन इसके इतर कई तरीकों से कथा पर विचार किया गया है। एक तो कथा की उत्पति कथ् धातु से हुई है । जिसका विवरण यहाँ देने का अवकाश नहीं है न ही यहाँ आवश्यक जान पड़ता है । दूसरा कथा का एक विशिष्ट अर्थ होता है किसी ऐसी कथित घटना का कहना, वर्णन करना, जिसका निश्चित परिणाम हो । इन उपर्युक्त बातों के आधार पर अगर कथा को परिभाषित करना हो तो इस तरह से परिभाषित किया जा सकता है- किसी से सम्बंधित घटना हो, उसकी किसी विशेष परिस्थिति या परिस्थितियों का निश्चित आदि और अंत वर्णन ही कथा कहलाता है ।

उपर्युक्त बातें कथा साहित्य का अति-संक्षिप्त परिचय देने के लिए की गई हैं । लेकिन हमें यहाँ हिंदी कथा आलोचना पर विचार करना है । इस सन्दर्भ में पहली बात तो यह जिसका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है वह यह कि हिंदी कथा-आलोचना को व्यवस्थित रूप देर से प्राप्त हुआ । हिंदी कथा आलोचना की दो परम्पराएँ रही हैं । एक तो वैश्विक परिदृश्य की परम्परा और दूसरा हिंदी साहित्य की परम्परा। वैश्विक परिदृश्य में जार्ज लुकाच ने कथा आलोचना को उपन्यास से जोड़ा और उसका सम्बन्ध यथार्थवाद से स्थापित किया । जिस यथार्थवाद का आगे चलकर ब्रेख्त ने यह कहते हुए विरोध किया कि- ''लुकाच का यथार्थवाद भी रूपवादी है क्योंकि वह पूरी तरह से अनैतिहासिक एवं अकादमिक है। यह यथार्थवाद साहित्य के धरातल से विकसित किया गया है न कि समाज की उन परिवर्तनशील

स्थितियों के आधार पर जिनसे साहित्य का जन्म होता है।"[1] लुकाच की कथा आलोचना में उपन्यास आलोचना को अधिक महत्त्व देने की इस पद्धति का प्रयोग हिंदी आलोचना में डॉ. रामविलास शर्मा 'प्रेमचन्द और उनका युग' नामक पुस्तक में कथा आलोचना के सन्दर्भ में करते हैं। इस पुस्तक में रामविलास जी प्रेमचंद की कहानियों से ज्यादा उपन्यासों पर जोर देते हैं। वैश्विक परिदृश्य पर एक ओर कथा आलोचना दृष्टि थी जो कहानियों को लेकर थी, जिसने उपन्यास के बजाय कहानियों को खास तवज्जो दी। फ्रैंक ओ' कोन्नोर ने लिखा है कि- "दरअसल यह कहना ज्यादा सही होगा कि हम भले ही प्रसिद्ध उपन्यासों को दुबारा केवल साहचर्य के लिए पढ़ते हैं, मगर उसी मनःस्थिति से हम कहानी नहीं पढ़ते। 'मैं अनंत रहस्य की अपार चुप्पी से डरता हूँ' –पास्कल के इस कथन पर यदि गौर करें तो कहानी इस मनोदशा के अधिक निकट प्रतीत होती है।"[2] इसके अलावा राल्फ फॉक्स और एडगर एलन पो आदि विदेशी आलोचकों ने भी कथा आलोचना पर विचार किया है।

सबसे पहले तो यह कि कहानी नामक विधा बहुत पुरानी विधा नहीं है। न ही वैश्विक साहित्य में न ही हिंदी साहित्य में। फिर भी हिंदी कहानी की एक परम्परा का संबंध लोक कथाओं, दादी-नानी की कहानियों और पंचतंत्रों जैसी रचनाओं से भी है, जिसे आधुनिक कहानी का उत्स माना जाता है। क्योंकि हिंदी कहानी पर विचार करने के क्रम में सबसे पहले ये जानना आवश्यक है कि कहानी क्या है ? इसके सम्बन्ध में 'जे.बर्ग इसेंविन' ने अपनी पुस्तक 'व्हाट इज दि शार्ट स्टोरी' में लिखा है-"कहानी एक संक्षिप्त कसावपूर्ण कल्पना प्रसूत विवरण है जिसमें एक प्रधान घटना होती है और एक प्रमुख पात्र होता है। इसमें एक कथावस्तु होती है जिसका विवरण इतना सूक्ष्म तथा निरूपण इतना संगठित होता है कि वह पाठकों पर एक निश्चित प्रभाव छोड़ता है।"[3] इस तरह आधुनिक हिंदी कहानी कहने से कथा संरचना के स्तर पर भिन्नता है। जैसे-कथासूत्र, कथानक, पात्र और देशकाल (पाश्चात्य में- उद्घाटन,

विकास और नाटक) आधुनिक कहानी के तत्व हैं और दूसरी भिन्नता विषय वस्तु की है। इस तरह कहानी जीवन के ठोस यथार्थ पर आधारित परिस्थितियों में परिष्कृत एक ठोस विधा है। एक बार फिर मैं यहाँ उल्लेख करना चाहूँगा कि कथा नामक जो विधा है वह मूलतः औद्योगिक क्रांति के समय की विधा है (एक तरह से देन है, उपन्यास के सन्दर्भ में)। इस तरह यह यूरोपीय विधा ठहरती है। एक तरह से देखें तो आधुनिक हिन्दी कहानी उपनिवेशवादी (उपनिवेशवाद का तृतीय चरण वित्तीय पूंजीवाद का दौर 1860-1947) विधा है साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि कथा (उपन्यास) का उद्भव उन्नीसवीं सदी में होता है और कहानी (शार्ट स्टोरी) का उद्भव बीसवीं सदी में होता है।

हिंदी कथा आलोचना का प्रारम्भिक प्रयास आचार्य रामचंद्र शुक्ल से होता है। आचार्य शुक्ल के बाद कुछ प्रयास डॉ. रामविलास शर्मा करते हुए दिखाई पड़ते हैं (प्रेमचंद और उनका युग, आस्था और सौन्दर्य इत्यादि)। परन्तु हिंदी कथा आलोचना की वास्तविक शुरूआत पचास के दशक से होती है। पहले तो यह प्रयास कहानीकारों के द्वारा कहानी संग्रहों की भूमिका के रूप में दिखता है फिर बाद में स्वतंत्र प्रयास आलोचकों द्वारा किये जाते हैं। स्वतंत्र प्रयास करने वालों में नामवर सिंह, सुरेन्द्र चौधरी, देवीशंकर अवस्थी, धनंजय वर्मा, और विजय मोहन सिंह इत्यादि प्रमुख हैं। लेकिन इनके आलावा कुछ कथाकार भी थे जिन्होंने समय-समय पर कथा आलोचना में सशक्त हस्तक्षेप किया है। मार्कण्डेय, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर इनमें प्रमुख हैं। इन आलोचकों और कथाकारों का अलग-अलग दृष्टिकोण कथा आलोचना को लेकर दिखाई पड़ता है। अगर संक्षेप में कहें तो सैद्धांतिक दृष्टि और व्यवहारिक आलोचना दृष्टि। हालाँकि सैद्धांतिक कथा आलोचना के आलोचकों में सुरेन्द्र चौधरी और कथाकारों में मार्कण्डेय ही अपनी उपस्थिति दर्ज कराते हैं। सुरेन्द्र चौधरी अपनी पुस्तक 'हिंदी कहानी प्रक्रिया और पाठ' में लिखते हैं कि-''मैं रचनात्मक और मनोरंजन

साहित्य के बीच प्रतिभा का भेद कृत्रिम मानता हूँ। चूँकि कोई रचना जन-समुदाय के बीच प्रचलन पाती है इसीलिए वह रचनात्मक नहीं है, ऐसी धारणा 'मिडिल ब्रो' हो सकती है यथार्थ नहीं।''[4] मार्कण्डेय एक जगह लिखते हैं- ''आज की कहानी अपने बाह्य और आंतरिक, दोनों उपकरणों में सचेत रूप से समाज के वस्तुगत संदर्भों की प्रतिलिपि है, लेकिन वह प्रकृतिवादी नहीं है। विकासशील विचार-परम्परा ने आज के लेखक को एक ऐसी जगह ला खड़ा किया है जहाँ से विमुख होने का अर्थ है उसकी रचना-शक्ति का ह्रास।''[5]

हिंदी कथा आलोचना के विकास के कई चरण हैं। प्रारम्भिक हिंदी कहानी, यथार्थवाद बनाम रूमानियत (प्रेमचंद स्कूल बनाम प्रसाद स्कूल), विचारधारा और कहानी, नई कहानी आन्दोलन, विविध कहानी आन्दोलन, समकालीन कहानी दशा और दिशा | इस तरह कथा आलोचना का विकास होता दिखाई पड़ता है। जिस पर इस अध्याय में बात की जाएगी।

हिंदी कथा आलोचना के विकास के प्रारम्भिक चरण में कहानियों को लेकर काफ़ी उथल-पुथल रही है। इसके कारण आज जब भी शुरूआती या प्रारम्भिक कहानियों की आलोचना की बात की जाती है तो पहला सवाल यही उठता है कि प्रथम कहानी कौन है ? जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा है'- ''कहानियों का आरंभ कहाँ से मानना चाहिए यह देखने के लिए 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ मौलिक कहानियों के नाम वर्षक्रम से नीचे दिए जाते हैं-

इंदुमती (किशोरीलाल गोस्वामी) संवत् 1957,

गुलबहार (") संवत् 1959,

प्लेग की चुड़ैल (मास्टर भगवानदास मिरजापुर) संवत् 1959,

ग्यारह वर्ष का समय (रामचंद्र शुक्ल) संवत् 1960,

पंडित और पंडितानी (गिरिजदत्त वाजपेयी) संवत् 1960,

दुलाईवाली (बंगमहिला) संवत् 1964,

इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भावप्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं- 'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली'। यदि इंदुमती किसी बँगला कहानी की छाया नहीं है तो हिंदी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरांत 'ग्यारह वर्ष का समय' फिर 'दुलाईवाली' का नंबर आता है।''[6] इस प्रकार आचार्य शुक्ल एक अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचते जान नहीं पड़ते हैं। इसके अलावा जितने भी आलोचकों ने कथा आलोचना पर विचार किया है लगभग सभी आलोचकों ने पहली कहानी की खोज शुरू की और आज भी कोई ठोस और सर्वसम्मति से पहली कहानी निर्धरित होती नहीं जान पड़ती है। इस संदर्भ में खगेन्द्र ठाकुर का यह वक्तव्य विचारणीय है कि-''हिंदी कहानी का बीज तो भारतेंदु युग में ही बोया गया, कहानी का बिरवा मिट्टी फोड़ कर निकला उन्नीसवीं शताब्दी के खत्म होते-होते और बीसवीं सदी के आँख खोलते ही। 'एक टोकरी भर मिट्टी' हिंदी कहानी का पहला मजबूत कदम है।''[7] **खगेन्द्र ठाकुर** (कथादेश, जून , 1999), सुरेन्द्र चौधरी का मानना है कि- ''घटना-विन्यास की वक्रता को एकमात्र भेदक तत्व मानकर क्या हम कहानी की विधा के साथ अन्याय नहीं करते ? अज्ञात रूप से ही सही, 'रानी केतकी की कहानी' कथा-साहित्य की परम्परा में संक्रमण का वह बिंदु है जहाँ से आधुनिकता प्रारम्भ होती है। हाँ, यह जरूर है कि 'रानी केतकी की कहानी' अपने युग की तात्कालिक प्रेरणा नहीं बन पायी, किन्तु, इतना तो मानना ही पड़ता है कि 'इंदुमती' का सम्पूर्ण वैचारिक ढाँचा इंशा की कहानी में पूर्वाशित होकर आता है। इस संबंध में और विस्तार से विचार किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि हिंदी कहानी के स्थापत्य पर कथाओं और आख्यायिकाओं के निर्माण की छाया प्रेमचंद की कहानियों तक पड़ती आयी है।''[8]

हिंदी की 'पहली' कहानी को लेकर मुख्यतः तीन मुद्दों पर विचार-विमर्श केन्द्रित रहा है। कालक्रम; मौलिक विषय-वस्तु और कहानी का आधुनिक स्वरूप। इस दृष्टि से पहली कहानी खोजने के क्रम में 1871 ई. ('एक जमींदार का दृष्टान्त' – रेवरेंड जे.न्यूटन) से लेकर 1915 ('उसने कहा था'- चंद्रधर शर्मा गुलेरी) तक की कहानियों की क्रमवार सूची होती है, जिसमें से सुविधानुसार कहानियों का चुनाव कर लिया जाता है। यह सही है कि प्रत्येक आलोचक का प्रत्येक रचना के प्रति अलग-अलग दृष्टिकोण होता है लेकिन दृष्टिकोण का फर्क इतना भी नहीं होना चाहिए। एक दशक में जितनी भी रचनाएँ लिखी गयीं वह बारी-बारी से अलग-अलग आलोचकों की दृष्टि में पहली रचना होनी चाहिए। दूसरा प्रश्न जो बार-बार आधुनिक कहानियों पर बात करते समय मेरे मष्तिष्क में घुमड़ता है, वह यह है कि आधुनिक कहानी का उद्भव एक तरह से नव-उपनिवेशवादी युग में हुआ है तो क्या इस युग के सामाजिक, सांस्कृतिक हलचलों को ध्यान में रखकर हिंदी की पहली कहानी पर विचार नहीं किया जा सकता? तीसरी बात प्रेमचंद के माध्यम से स्पष्ट करना चाहूँगा- ''गल्प या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है। आज से नहीं आदिकाल से ही है, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में समय की गति और रुचि के परिवर्तन से बहुत कुछ अंतर हो गया है... वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती है।''[9] इस कथन में दो शब्दों पर ध्यान देने लायक है 'अनुभूतियाँ' और 'अनुरंजित' | फिर ये जिज्ञासा पैदा होती है कि आखिर उस सदी में ऐसी कौन सी 'अनुभूतियाँ' 'अतिरंजित' हो रही थी जिसके ऊपर आलोचकों का ध्यान पहली कहानी निर्धारित करते समय नहीं जाता। इसको भी आलोचकों को पहली कहानी निर्धारित करते समय ध्यान में रखना चाहिए। हिंदी की पहली कहानी अगर संवेदना की प्रगाढ़ता और परिवेश-अंकन की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावपूर्ण कहानी का रूप क्या

हो सकता है, यह जानने में जिस कहानी ने सर्वप्रथम योग दिया, वह है गुलेरी जी की 'उसने कहा था' (1915)। इस कहानी के सन्दर्भ में आलोचक सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं- ''पूरी कहानी का रचनात्मक शिल्प प्रत्याभास (फ्लैश बैक) का यह शिल्प पहली बार देखने में आता है। सन् 1915 ई. में कहानी के रचनातन्त्र में इसका उपयोग उस समय बहुत अंशों में पाश्चात्य देशों में भी मुश्किल से ही स्वीकृत हो पाया था। भारतीय साहित्य की तो बात ही और है।''[10]

हिंदी कथा-साहित्य के संदर्भ में एक और बात उभरकर सामने आती है कि कथा रचना है या मनोरंजन। यहाँ अब हिंदी कथा की बात छोड़कर अगर पूरे साहित्य के पठन-पाठन पर विचार करें तो अकादमिक को छोड़ आज साहित्य का पठन-पाठन मनोरंजन के उद्देश्य से किया जाता है। मैनेजर पाण्डेय ने अपने एक व्याख्यान में कहा था- 'आज साहित्य नींद लगाने के लिए लोग पढ़ते हैं। अगर मुक्तिबोध की रचनाओं को लोग नींद लगाने के लिए पढ़ेंगे तो नींद नहीं आयेगी इसीलिए मुक्तिबोध की रचनाओं को लोग नहीं पढ़ते।' पाण्डेय जी की यह बात बहुत हद तक सही है। लेकिन इस नजरिये को हमें सकारात्मक भाव से नहीं देखना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक साहित्य का किसी न किसी समाज से जुड़ाव होता है। जैसा कि आलोचक मैनेजर पाण्डेय ही अपनी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में लिखते हैं- ''साहित्य की सामाजिक दृष्टि समाज से साहित्य के विभिन्न प्रकार के संबंधों की खोज करती है। लेकिन साहित्य कोई स्थिर वस्तु नहीं है। वह परिवर्तनशील और विकासशील होता है। परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया से साहित्य की परम्परा के भीतर चलती है और वह समाज की विकास-प्रक्रिया से प्रभावित होती है। इस प्रक्रिया में साहित्यिक कृतियों की रचना और बोध का सारा क्रिया-व्यापार घटित होता है। साहित्य और समाज के बीच संबंध दो परस्पर सम्बद्ध विकासशील प्रक्रियाओं का आपसी संबंध है। इसलिए एक साहित्यिक कृति का समाज से संबंध भी बदलता रहता है।''[11] यहाँ तक तो बात साहित्य की हुई। अब हम कथा

की बात करेंगे क्योंकि कथाओं या कहानियों के साथ तो पाठक (आम जनता) का संबंध मनोरंजन का ही अधिक जान पड़ता है। इस संदर्भ में आलोचक नामवर सिंह लिखते हैं- ''कहानी का यह दुर्भाग्य है कि वह मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती है और शिल्प के रूप में आलोचित होती है। मनोरंजन उसकी सफलता है तो शिल्प सार्थकता!''[12] इसी कथन को ध्यान में रखते हुए आलोचक सुरेन्द्र चौधरी की एक बात ध्यान देने लायक है-"सामान्यत: पाठकों और आलोचकों के एक समुदाय के बीच इस बात को लेकर सहमति है कि कथा हमारा मनोरंजन करता है। इस मनोरंजन को लेकर अभिजात रुचि बराबर कथा कहानियों को हेय दृष्टि से देखती आयी है। कुछ बुजुर्गों का ख्याल आज भी कथा-साहित्य को लेकर बदला हो, ऐसा देखने में नहीं आता। हिंदी का 'मनोरंजन' चाहे आज अपनी मूल ध्वनि खो चुका हो, फिर भी उसे हम अँगरेजी 'इंटरटेनमेंट' का एकमात्र पर्याय तो नहीं ही मानेंगे.''[13] इस तरह सुरेन्द्र चौधरी कथा को मनोरंजन मानने के पक्ष में नहीं हैं। आगे चलकर इसका सम्बन्ध वे 'रचना धर्म' और 'रचना व्यापार' से जोड़ते हैं। 'रचना धर्म' को स्पष्ट करने के लिए 'प्रेमचन्द' की कहानियों को रखते हैं और 'रचना व्यापार' के लिए 'अज्ञेय' की कहानियों को रखते हैं। और आखिर में लिखते हैं कि- ''बात कहानी के रचनात्मक धर्म को लेकर ही शुरू हुई थी और उसी पर खत्म भी होनी थी, किन्तु उसकी विवृति व्यापार धर्म के सन्दर्भ में ही हो सकती थी। मेरे कथन का शायद यह आशय ग्रहण किया जा सकता है कि प्रेमचंद के बाद हिंदी में रचनाधर्मी कहानीकार है ही नहीं, बस व्यापार ही व्यापार है। किन्तु ऐसा मानना मेरे अभिप्राय को गलत समझना होगा। वस्तुतः रचनाधर्मी कहानीकार कथा-साहित्य के विकास के प्रत्येक युग में रहे हैं और रहेंगे, ठीक वैसे ही जैसे व्यापारधर्मी रहे हैं और रहेंगे।''[14] अब यहाँ बात सीधे-सीधे 'रचना-प्रक्रिया' से जुड़ जाती है। जिसकी चर्चा अगले अध्यायों में की जाएगी। परन्तु किसी भी रचना का पाठ उसके सामाजिक महत्त्व को रेखांकित कर सकता है जिसमें रचनाकार से लेकर पाठक और आलोचक तक का योगदान होना चाहिए। गजानन माधव मुक्तिबोध ने इस संदर्भ

में लिखा है कि- ''कला सब समय के लिए और विश्वात्मक होते हुए भी वह अपने समय और जन्म-स्थान (यानि-देश) से विच्छिन्न नहीं हो सकती । उसका विश्वात्मक रूप उसके एकदेशीय रूप का ही विकास है । अतएव दोनों रूपों में कोई मौलिक भेद न होकर केवल विकास के अंतर का ही भेद है । एकदेशीयता जब कला की सीमा रह जाती है, यानी उसकी अपील जब उसके आगे बढ़ने नहीं पाती, तब वह मर जाती है ।''[15]

1915 तक आते-आते हिंदी कहानी एक विधा के रूप में अपना महत्त्व प्रमाणित कर चुकी थी। 1915 से 1936 तक के दौर में हिंदी में कई महत्त्वपूर्ण कहानीकार थे । उनमें प्रसिद्धि हासिल करने वालों में प्रेमचंद, प्रसाद और उग्र इत्यादि थे । इन तीनों ही कथाकारों ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध से लेकर आज तक कहानी विधा को इस कदर प्रभावित किया है कि इनको छोड़कर कहानियों पर चर्चा करना अधूरा महसूस होने लगा । इन तीनों ही कथाकारों का कहानियों के प्रति दृष्टिकोण अलग-अलग था । जैसे प्रेमचंद यथार्थवादी तो प्रसाद रोमांटिक दृष्टिकोण के कहानीकार थे । और बाद के कथाकारों ने इन दोनों ही कथाकारों से अपनी उर्जा ग्रहण किया। हिंदी कहानी आन्दोलन में एक तरफ प्रेमचंद स्कूल और दूसरी तरफ प्रसाद स्कूल की स्थापना हो जाती है । प्रेमचंद स्कूल में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', भगवती प्रसाद वाजपेयी, सुदर्शन, ज्वाला दत्त शर्मा जैसे कहानीकार थे, तो वहीं प्रसाद स्कूल से प्रेरित राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह और जी.पी. श्रीवास्तव जैसे महत्त्वपूर्ण कथाकार थे । परन्तु 1915 से 1936 तक के कालखंड में इन दोनों स्कूलों में कौन-कौन कथाकार थे नहीं थे से ज्यादा उल्लेखनीय तथ्य कहानीकारों की कहानी लेखन के प्रति जो दृष्टिकोण था उसकी चर्चा महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है।

जैसा कि मालूम है कि प्रेमचंद यथार्थवादी कहानीकार थे। यथार्थवाद के सन्दर्भ में मुक्तिबोध लिखते हैं –''यथार्थवाद जिसे आजकल वर्गवादी प्रगतिवादी कहते हैं, तभी तक ठीक

है जब तक उसका लेखक अपनी स्फूर्ति वास्तविक स्थिति से पाता है। प्रश्न स्फूर्ति का ही है। केवल ग्रामीण स्थिति देख-भर लेने से, या गाँव के वातावरण में लेखक के रहने से, सच्चे यथार्थवादी साहित्य का जन्म नहीं हो सकता, जब तक लेखक की आत्मा ग्रामीणता में स्वयं नहीं पनपती, और वहाँ की क्रिया-प्रतिक्रिया से प्रवहनशील होकर साहित्य में नहीं उतरती।''[16] उपर्युक्त कथन में मुक्तिबोध लेखक की स्फूर्ति पर जोर देते हुए यथार्थ चित्रण के प्रारूप को स्पष्ट करते मालूम पड़ते हैं। हिंदी कहानी में प्रेमचंद यथार्थवादी चित्रण के सर्वोत्कृष्ट लेखक माने जाते हैं और उनकी कहानी 'कफन' जो उनके जीवन काल के (1936) अंतिम दौर की कहानी है | कहानी के प्रारम्भ में प्रेमचंद लिखते हैं- ''झोपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं और अंदर बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव-वेदना में पछाड़ खा रही थी। रह-रहकर उसके मुँह से ऐसी दिल हिला देने वाली आवाज़ निकलती थी, कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई, सारा गाँव अंधकार में लय हो गया था।

घीसू ने कहा 'मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते ही गया, जा देख तो आ।

माधव चिढ़कर बोला – मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देखकर क्या करूँ?

''तू बड़ा बेदर्द है बे! साल-भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफ़ाई!''

''तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।''[17]

'कफन' का ये प्रसंग यथार्थ संवेदनात्मक 'स्फूर्ति' का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रेमचंद का समय (1915 से 1936 तक) हिंदी कहानियों में घनघोर सामंतवादी ब्राह्मणवादी दौर से गुजर रहा था। इस दौर में प्रेमचंद 'शतरंज के खिलाड़ी' (1924), 'पूस की रात' (1930), 'कफन' (1936), इत्यादि कहानियों के माध्यम से इन सामाजिक विषमताओं पर लिख रहे थे। "उसने जाकर

आले पर से रूपये निकाले और लाकर हल्कू के हाथ पर रख दिए। फिर बोली-तुम छोड़ दो अबकी से खेती। मजूरी में सुख से एक रोटी तो खाने को मिलेगी किसी की धौंस तो न रहेगी। अच्छी खेती है। मजूरी करके लाओ, वह भी उसी में झोक दो, उस पर धौंस।''[18] इस तरह की विषमता को उसी सजीवता के साथ देख पाना प्रेमचंद के ही बूते की बात थी। वहीं इसी कालखंड में दूसरे महत्त्वपूर्ण कहानीकार 'जयशंकर प्रसाद' थे, जिनका कहानियों को लेकर दृष्टिकोण रोमांटिक था। प्रसाद के संदर्भ में कहा जाता है कि वे भावपरक धारा के कहानीकार थे। इनका कहानी के प्रति दृष्टिकोण को देखते हुए मुक्तिबोध की एक बात याद आती है जो मूलतः रोमांस के बारे में है-''जिस तरह सामाजिक व्यथा से जाग्रत मानवीय आत्मा यथार्थवादी हो जाती है, उसी तरह अपनी सम्पन्न परिस्थिति में अपनी भावनाओं के मनोहर कोष से चेतन मानव-आत्म भावना-प्रधान और कल्पना-प्रधान, जिसे रोमैंटिक कहते हैं, हो जाती है।''[19] इसी के आलोक में हम प्रसाद की कहानी 'गुण्डा' के इस प्रसंग को देखते हैं-''जीवन की किसी अलभ्य अभिलाषा से वंचित होकर जैसे प्राय: लोग विरक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह किसी मानसिक चोट से घायल होकर, एक प्रतिष्ठित जमींदार का पुत्र होने पर भी, नन्हकू सिंह गुंडा हो गया था। दोनों हाथों से उसने अपनी सम्पति लुटायी। नन्हकूसिंह ने बहुत- सा रुपया खर्च करके जैसा स्वांग खेला था, उसे काशी वाले बहुत दिनों तक नहीं भूल सके। वसंत ऋतु में यह प्रहसनपूर्ण अभिनय खेलने के लिए उन दिनों प्रचुर धन, बल निर्भीकता और उच्छृंखलता की आवश्यकता होती थी। एक बार नन्हकूसिंह ने भी एक पैर में नूपुर, एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हजारों के मोती तथा दूसरे कान में फटे हुए जूते का तल्ला लटकाकर, एक जडाऊ मूठ की तलवार, दूसरा हाथ आभूषणों से लदी हुई अभिनय करनेवाली प्रेमिका के कंधे पर रखकर गाया था –

''कहीं बैगंवाली मिले तो बुला देना।''[20]

यह पूरी कहानी नन्हकूसिंह नाम के व्यक्ति की कहानी है। जो पचास वर्ष से ऊपर था लेकिन युवकों से अधिक बलवान और दृढ था। कहानी में काशी का वर्णन है कि उस समय काशी पहले जैसी नहीं रह गई थी। मंदिरों और मठों के ध्वंस और तपस्वियों के वध के कारण, उनका कोई अस्तित्व नहीं रह गया था। इन सब बातों को देखते हुये पूरी कहानी एकदेशीयता धारण करती जान पडती है। वहीं 1936 के आस-पास प्रकाशित प्रेमचंद की कहानी 'कफन' एक व्यापक फ़लक लेकर चलती है। इन दोनों ही कथाकारों की कहानियों पर बात करते हुए सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं – ''जयशंकर प्रसाद की कहानियों का स्थापत्य चरित्र-व्यापारों से और व्यापारशील चरित्रों के जीवन-संदर्भ से निर्मित होता है। इस अर्थ में प्रसाद की कहानियाँ नाटकीय विधियों से 'कथानक' का ढाँचा तैयार करती हैं। घटनाओं का अंतर्क्षेप वहाँ भी वैसा ही है जैसा कि प्रेमचंद की कहानियों में, किन्तु प्रसाद में ये घटनाएँ चरित्र-व्यापार को बहुत ही सावयव ढंग से सम्बद्ध करती चलती हैं। प्रेमचंद की प्रारम्भिक कहानियों की तुलना में प्रसाद की प्रारम्भिक कहानियाँ, इसीलिए निर्माण की दृष्टि से अधिक सुघड़ हैं। कहानी विकास के दौर में कहानीकार प्रत्येक नाटकीय मोड़ पर पूर्वावधान कर लेता है, फलत: ऐसे स्थलों पर कहानी की गति को संयोग के आधार पर तोड़ने-जोड़ने का कृत्रिम प्रयास उसे नहीं करना किन्तु, कहानी के स्थापत्य को अधिक लचीला, अधिक सम्प्रसार-सह्य बनाने के प्रयास में प्रसाद जी कभी-कभी बहुत भद्दे ढंग से काम लेते हैं। नाटकीय संघातों पर आवश्यकता से अधिक विश्वास करने के कारण उनकी कुछ-एक कहानियाँ बिल्कुल आयामहीन, चौरस होकर रह जाती हैं। उद्घातकों के अनावश्यक और अतिनाटकीय प्रयोग के कारण उनकी कहानी का स्थापत्य व्यावहारिक (Functional) कम और शोभाकारक (Decorative) अधिक हो जाता है।''[21] प्रेमचंद की कहानियों में घटनाओं का प्रवाह देखने को मिलता है। जबकि उसी युग के अन्य कहानीकारों में उस तरीके का घटना प्रवाह और किस्सागोई नहीं दिखाई पड़ती है।

1936 के बाद हिंदी कहानी में एक नया मोड़ आया। इसको लक्षित करते हुए आलोचक मधुरेश लिखते हैं-'' सन् 36 में प्रेमचंद के निधन के पूर्व ही हिंदी कहानी में घटित परिवर्तन की आहट सुनाई देने लगी थी। कहानी की दो धाराओं- सामाजिक यथार्थ और व्यक्तिवादी- को लेकर कुछ आलोचकों के इस विभाजन में सरलीकरण दिखाई देता है। लेकिन इससे इन दो धाराओं के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। इस शताब्दी का तीसरा दशक, सन् 21 से सन् 30 तक का काल-खंड, स्वाधीनता आन्दोलन के अभूतपूर्व उभार का काल है। इसी कारण प्रेमचंद के 'कर्मभूमि' को रामविलास शर्मा ने स्वाधीनता आंदोलन के प्रसार का उपन्यास कहकर उसकी इस विशेषता को रेखांकित किया है।''[22] इस दृष्टि से हिंदी कहानी में 1936 के आस-पास या प्रेमचंदोत्तर युग में स्पष्ट रूप से विचारधारा कहानियों में उभरकर सामने आती है। इसके प्रतिनिधि मुक्तिबोध, यशपाल, अज्ञेय, जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी जैसे इत्यादि कहानीकार हैं। इस काल-खंड में मुख्यतः दो विचारधाराओं से प्रेरित कहानीकार थे। एक मार्क्सवादी और दूसरे मनोविश्लेषणवादी। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित कहानीकारों में मुख्य रूप से मुक्तिबोध और यशपाल थे। मार्क्सवादी साहित्य दृष्टि का अंदाजा 'द गेटकीपर' में टेरी ईगलटन द्वारा लिखित इस बात से लगाया जा सकता है। टेरी ईगलटन लिखते हैं कि-''अपनी जड़ों से विच्छिन होने के अहसास ने मेरी चिंताएँ काफ़ी बढ़ा दी थीं, लेकिन बाद में धीरे-धीरे मेरी चिंताओं पर धैर्य हावी होता चला गया। मुझे लगा कि यह मानना बेवकूफी होगी कि मेरा व्यक्तित्व बंट गया है बल्कि यह समझना होगा कि मैं दो संस्कृतियों को अपने व्यक्तित्व में एक साथ वहन कर सकता हूँ। मुझे इस वहम में नहीं रहना चाहिए कि मैं घड़ी की सुई उलटी घुमा सकता हूँ जहाँ मेरा आइरिश बचपन फिर लौट आए। वह दुनिया, वह वक्त पीछे छूट गया है लेकिन मैंने उस आइरिश दुनिया और वहाँ बसे मेरे पिता से जुड़े लोगों के बारे में लिखना बंद नहीं किया। यह मेरी जड़ो की और वापसी नहीं बल्कि जड़ों के प्रति रचनात्मक दायित्व को निभाने के समान था।''[23] इस उद्धरण में 'जड़ों के प्रति

रचनात्मक दायित्व निभाने की बात सर्वाधिक गौर करने वाली बात है । हिंदी कहानी में भारतीय जनता की जड़ों के प्रति दायित्व निभाने की बात तो लगभग 1915 के बाद से ही प्रेमचंद सरीखे कथाकार करने लगे थे। लेकिन उसका स्पष्ट प्रस्फुटन 1936 में दिखा । इस संदर्भ में आलोचक सुरेन्द्र चौधरी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' में लिखा है कि "प्रत्येक युग में रचनात्मक कल्पना अपनी परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहारिक स्थापत्य (Functional Structure) ग्रहण कर लिया तो प्रेमचंदोत्तर कहानी-साहित्य में भी उसका अपने युगबंध के अनुरूप एक विशिष्ट और अलग स्थापत्य मिल जाना स्वाभाविक है । इस सम्बन्ध में अभी हाल ही में यशपाल जी ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है । उनके अनुसार – "मेरी कहनियों में वर्णित घटनाएँ मेरी व्यक्तिगत जानकारी में पार्थिव या भौतिक रूप में कभी घटी नहीं हैं, इसलिए कोई आलोचक उन्हें अयथार्थ भी कह सकता है । मैं मानता हूँ वे घटनाएँ तथ्य नहीं हैं, परन्तु उन घटनाओं में जिन मूल कारणों, मान्यताओं, व्यवहार और भावनाओं की ओर संकेत है वे कारण मान्यताएँ, व्यवहार और भावनाएं यथार्थ हैं।"[24] इस कथन में प्रेमचंद के स्थापत्य से अलग जनता की भावनाओं का यथार्थ चित्रण किया है । इसे चित्रित करने के लिए यशपाल अक्सर व्यंग्य का सहारा लेते दिखते हैं । इसी को 'दूसरी नाक' और 'मक्रिल' जैसी कहानियों में देख सकते हैं। 'मक्रिल' में वे लिखते हैं- "यूरोप और अमरीका ने जिसकी प्रतिभा का लोहा मान लिया, जो देश के इतने अभिमान की सम्पत्ति है, वही कवि 'मक्रिल' में कुछ दिन स्वास्थ्य सुधारने के लिए आ रहा है । मक्रिल में जमी राष्ट्र-अभिमानी जनता पलकों के पाँवड़े डाल, उसकी अगवानी के लिए आतुर हो रही थी ।"[25] 1936 के आस-पास ही हिंदी के एक महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी साहित्य चिंतक मुक्तिबोध भी कहानियाँ लिख रहे थे। उनकी कहानियों पर विचार करते हुए सुरेन्द्र चौधरी ने 1980 के अपने एक लेख में लिखा है कि- "मुक्तिबोध की कहानियों के रूपक संसार और उसके अर्थान्तारों की एक रूपरेखा उकेरने का प्रयत्न भर किया है । अंत में राजनीतिक व्यंग्य और राजनीतिक रूपकों से भिन्न

मुक्तिबोध के रूपकों में सम्पूर्ण मानवीय सत्ता के प्रश्नों को लेकर जो जटिलताएँ हैं, उनका निर्देश कर यह कहना पसंद करूँगा कि मुक्तिबोध की कहानियाँ Poltical Alligory मात्र नहीं हैं - जैसा ऑरवेल आदि प्रतिक्रियावादी लेखक रूपक का उपयोग करते हैं- उसमें टॉमस मान की तरह मानव नियति की पहचान का एक निहतार्थ बराबर व्यक्त होता है।''[26] सुरेन्द्र चौधरी ने अपने इस लेख में एक बात कही है Political Alligory मात्र नहीं है मुक्तिबोध की कहानियाँ। इस बात से सहमत होने में हमें हिचक नहीं होनी चाहिए क्योंकि उनकी कहानियाँ या उनका पूरा साहित्य दमन और शोषण की तह में जाकर बुर्जुआवादी विचारधाराओं की खोज करने की कोशिश है।

1936 के बाद हिंदी कहानी में जो दूसरी विचारधारा थी, वह फ्रायड से प्रभावित थी। इसके सन्दर्भ में आलोचक मधुरेश अपनी पुस्तक 'हिंदी कहानी का विकास' में लिखते हैं- ''यूरोप में फ्रायड का बढ़ता हुआ प्रभाव और सोवियत क्रांति की गूंज सीमायें लांघकर भारत की हवा में भी घुलने लगे थे। इंग्लैंड में दूसरे दशक के प्रारम्भ में ही वर्जीनिया वुल्फ को मनुष्य की प्रकृति में घटित परिवर्तन का अनुभव होने लगा था। इसीलिए जब सन् '29 में जैनेन्द्र कुमार अपनी कहानियों के पहले संग्रह 'फाँसी' के साथ कहानी के मंच पर आये उनकी ये कहानियाँ दो वर्ष पहले से ही पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही थीं, तो तुरंत ही लोगों का ध्यान उनकी ओर गया। स्वयं प्रेमचंद ने उनकी उपस्थिति में हिंदी के गोर्की का आभास पाकर इसी रूप में उनका स्वागत किया।''[27] फ्रायड के सिद्धान्त को हमलोग मनोविश्लेषणवाद के रूप में जानते हैं। जिसमें 'काम और व्यक्ति की दमित भावनाओं को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया।' इस वाद से प्रभावित कहानीकारों में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और जैनेंद्र इत्यादि हैं। इन लोगों को लक्षित करते हुए सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं-"अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी इत्यादि प्रेमचंद के बाद के कहानीकारों ने कथात्मक स्थापत्य को अपनी रचना-प्रक्रिया से बहुत अधिक प्रभावित

किया है। कथा के पुराने 'कथानकमूलक' निर्माण को छोड़कर इन कहानीकारों ने सामान्यत: जीवन-प्रवाह के रूप में प्रसंगोत्थित घटनाओं की योजना के द्वारा कथा-विधान की प्रक्रिया अपना ली। ये घटना-प्रसंग को स्वाभाविक प्रवाह में व्यक्ति की व्यवहारिक परिस्थितियों के रूप में ही चित्रणीय समझते थे। इस निर्माण के कारण कथा में अधिक प्रवाह लाने की चेष्टा की गयी। कथा का यह निर्माण रैखिक रूप से भिन्न और अधिक पूर्ण था। इसका एक कारण संभवतः यह है कि कोई मे आत्मपूर्ण या संश्लिष्ट रूप संघटन की दृष्टि से संधिहीन होता है, दूसरा यह कि इसमें संभवतः सबसे अधिक घनत्व भी होता है।''[28] इन कहानीकारों की कहानियाँ मानवीय व्यवहार से अधिक कुंठाओं और ग्रन्थियों पर केन्द्रित थीं। इन कहानीकारों ने अपनी कहानियों में 'फैंटेसी' का खूब इस्तेमाल किया है। इन कहानीकारों की इस दौर के अन्य कहानीकारों की तुलना में एक ही कमी मालूम पड़ती है वह है- व्यक्तिवादी सोच। जिसको अज्ञेय से लेकर इलाचन्द्र जोशी के लेखन में देखा जा सकता है। इन कहानीकारों की विचारधाराओं के बारे में मुक्तिबोध लिखते हैं- "फ्रॉइड का यह कहना ठीक है कि कला में जो अनायासता और प्रवाह है, जो रंगीन चित्रात्मक वातावरण है, वह अवचेतन स्रोतों के कारण है। मैं अपनी एक बात स्पष्ट कर दूँ कि फ्रॉइड का (सब कॉन्शस) केवल दमित इच्छाओं का पुंज मात्र है। मेरे लिए वह केवल यही न होकर प्राकृत शक्ति का एक गतिमान प्रवाह है जिसके तत्व समाज से प्राप्त होते हैं संस्कारों द्वारा आनुवंशिकता द्वारा यह प्रवाह अपने शक्ति रूप में व्यक्तिगत (जेनोटाइप) होता है। परन्तु प्रवाह में बहनेवाले तत्व सामाजिक ही होते हैं।''[29] हिंदी कहानी के जिस दौर की बात अभी तक की गई है। लगभग उसी दौर में हिंदी कविता के क्षेत्र में 'प्रगतिवाद' का दौर था। जिस दौर में स्पष्ट रूप से सामाजिक उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिरोध का साहित्य रचा गया। सदियों से समाज में चली आ रही दमन की संस्कृति का स्पष्ट रूप से इस दौर के साहित्यकारों ने प्रतिरोध किया। नामवर जी ने इस दौर पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि-"आजादी के साथ भारत में वह शिक्षित मध्यवर्ग स्थापित, विकसित और

संवर्धित हुआ जो साहित्य के इतिहास में कहानी का जन्म-दाता है। शुरू के तीन-चार वर्षों की संक्रमण-कालीन अराजकता की स्थिति जैसे ही समाप्त हुई और संविधान-निर्माण के द्वारा देश में जनतंत्र कायम हो गया तो साहित्य-सृष्टि के लिए एक नया वातावरण मिला। राष्ट्र-भाषा हिंदी ने राजकीय स्वीकृति प्राप्त करके भारतीय साहित्य में एक नई ऐतिहासिक भूमिका शुरू की और लोकप्रिय साहित्य-रूप 'कहानी' का स्वभावतः सबसे अनुकूल वातावरण मिला। यह आकास्मिक नहीं है कि जो 'कहानी' पत्रिका सन् 1938 में निकलकर कुछ दिनों बाद ही लड़ाई के कारण बंद हो गई, उसे फिर निकालने का हौसला सरस्वती प्रेस को 1954 में हुआ।''[30]

हिंदी कहानी का पचास का दशक 'नई कहानी' की शुरुआत का दशक माना जाता है। इस दौर के सर्वोत्कृष्ट आलोचक नामवर सिंह और सुरेन्द्र चौधरी माने जाते हैं। हिंदी कथा के इतिहास में यह सर्वाधिक रचनाशीलता का दौर था। जिसमें फणीश्वरनाथ रेणु, धर्मवीर भारती, मार्कंडेय, अमरकांत, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा, मन्नू भंडारी, शानी, उषा प्रियंवदा, हरिशंकर परसाई और शैलेश मटियानी जैसे इत्यादि कथाकार मौजूद थे। इन कहानीकारों की कहानियों की विषय-वस्तु महानगरीय, कस्बाई एवं ग्रामीण जीवन-बोध, यथार्थ चित्रण, ऐतिहासिक मोहभंग, मध्यवर्गीय जीवन सामाजिक एवं पारिवारिक संबंधों का बिखराव इत्यादि रहा है। इस दौर की कहानियों पर इस अध्याय के अंतर्गत विस्तार से चर्चा करना मुनासिब नहीं होगा क्योंकि अगला अध्याय सीधे-सीधे 'नई कहानी आन्दोलन' से जुड़ा हुआ है। लेकिन थोड़ी चर्चा करना चाहूँगा। नई कहानी के संबंध में पहला मतभेद 'नई कहानी' नाम को लेकर है। दूसरा मतभेद पहली नई कहानी कौन? और तीसरा मतभेद नई कहानी की रचना-प्रक्रिया को लेकर है। इन तीनों ही मतभेदों पर क्रमवार ढंग से हम विचार करेंगे। पहला मतभेद नई कहानी नाम को लेकर है। जिसको हमें थोड़े संशोधन 'नई कहानी आन्दोलन' के साथ स्वीकार करने में कोई गुरेज नहीं होना चाहिए। उसी तरह 'नई कहानी' का दौर भी एक

'आन्दोलन' का ही दौर था। दूसरा जो मतभेद पहली नई कहानी कौन ? इस मतभेद पर विचार करने से पहले 'पहल 97' में छपा आलोचक रविभूषण के लेख का एक अंश उद्धृत करना चाहूँगा- ''हिंदी कथाआलोचना में नामवर के आगमन तक नये कहानीकारों के कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। जिन कुछ कहानीकारों के संग्रह 1960 और उसके बाद आए, उन सबकी कई कहानियां पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। रेणु की कहानियाँ 1950 के पहले से प्रकाशित हो रही थीं। 'रसप्रिया' कहानी 1955 में प्रकाशित हुई थी और 'तीसरी कसम' 1956 में। 1959 में 'ठुमरी' कहानी-संग्रह आया जिसमें 'रसप्रिया', 'तीसरी कसम', 'लाल पान की बेगम', 'पंचलाइट' और 'ठेस' जैसी कहानियाँ थीं। 1960 में निर्मल वर्मा का 'परिंदे', कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ था, जिसमें सात कहानियाँ- 'परिन्दे', 'डायरी का खेल', 'माया का मर्म', 'तीसरा गवाह', 'अँधेरे में', 'पिक्चर पोस्टकार्ड' और 'सितम्बर की एक शाम' शामिल थी। 'परिन्दे' कहानी 1957 में 'हंस' के अर्द्धवार्षिक संकलन में प्रकाशित हुई थी। मार्कण्डेय के चार कहानी-संग्रह 1954 से 1958 तक प्रकाशित हुए थे- 'पान फूल' (1954) 'महुए का पेड़' (1955), 'हंसा जाई अकेला' (1957), और 'भूदान' (1958), शेखर जोशी ने 1953 में 'दाज्यू' कहानी लिखी थी, जिसे 'अश्क' ने वार्षिक संकलन 'संकेत' (1956) में पुनर्प्रकाशित किया। 'कोसी का घटवार' संग्रह 1958 में आ चुका था। इस संकलन की दस कहानियों में 'दाज्यू', 'कविप्रिया', 'कोसी का घटवार', 'बदबू' और 'किं करोमि जनार्दन' भी हैं। निर्मल वर्मा के 'परिन्दे' से पहले अमरकांत का कहानी-संग्रह 'जिंदगी और जोक'(1958), आ चुका था। 'जिंदगी और जोंक' तथा 'दोपहर का भोजन' कहानी 1955 में प्रकाशित हुई थी। और 'डिप्टी कलक्टरी' 1956 में। कमलेश्वर के दो आरम्भिक कहानी-संग्रह 'राजा निरबंसिया' और 'कस्बे का आदमी' का प्रकाशन वर्ष 1957 है। मोहन राकेश ने अपने पहले कहानी-संग्रह 'इन्सान के खंडहर' (1957) को महत्त्व नहीं दिया है। उनके दो कहानी-संग्रह 'नये बादल' (1957) और 'जानवर और जानवर' (1958) महत्त्वपूर्ण हैं। पचास के दशक में राजेन्द्र यादव

के चार कहानी-संग्रह आ चुके थे – 'देवताओं की मूर्तियाँ' (1952), 'खेल खिलौना' (1954), 'जहाँ लक्ष्मी कैद है'(1957) और 'अभिमन्यु की आत्म हत्या' (1959), शिवप्रसाद सिंह के दो कहानी-संग्रह 'आर पार की माला' और 'कर्मनाशा की हार' 1955 और 1958 में प्रकाशित हुए थे। मन्नू भंडारी का कहानी-संग्रह 'मै हार गई' 1957 में छप चुका था। राजकुमार की 'हुस्न की बीबी और कहानियाँ' का प्रकाशन वर्ष 1958 है। यह सूची और बढ़ाई जा सकती है, पर इसे लिखने का अर्थ यह है कि नामवर जी जब कथालोचना पर काम कर रहे थे, प्रायः सभी नये कहानीकारों की कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। अनेक के कहानी-संग्रह भी सामने थे। 'परिन्दे' के पहले सभी प्रमुख नये कहानीकारों के संग्रह छप चुके थे पर नामवर जी ने समीक्षा और विचार के लिए 'परिन्दे' का ही चयन किया। 'पसंद अपनी-अपनी ख्याल अपना।''[31] इतना लम्बा अंश उद्धृत करने की मेरी मंशा केवल तथ्य को प्रस्तुत करना है। इस अंश से तो एक बात का पता चल जाता है कि नामवर सिंह 'नई कहानी' की प्रथम कहानी जिस कहानी को मानते हैं वह निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' कहानी है, जो सन् 1957 में 'हंस' के अर्द्धवार्षिकी संकलन में प्रकाशित हुई थी। वहीं दूसरी तरफ 1955 में अमरकांत की कहानी 'जिन्दगी और जोंक' तथा 'दोपहर का भोजन' प्रकाशित हो चुकी थी। जिस कहानी को आलोचक नामवर 'नई कहानी' की प्रथम कहानी मानते हैं, उससे पहले बहुत से नये कहानी लेखकों की कहानियाँ छप चुकी थीं। तब क्या जरूरत आन पड़ी नामवर जी को कि 'परिन्दे' को ही 'नई कहानी' की पहली कहानी घोषित करने की ? इस संदर्भ में वे लिखते हैं-''फकत सात कहानियों का संग्रह 'परिंदे' निर्मल वर्मा की ही पहली कृति नहीं है बल्कि जिसे हम 'नई कहानी' कहना चाहते हैं उसकी भी पहली कृति है। पढ़ने पर सहसा विश्वास नहीं होता कि ये कहानियाँ उसी भाषा की हैं जिसमें अभी तक शहर, गाँव, कस्बा और तिकोने प्रेम को ही लेकर कहानीकार जूझ रहे हैं। 'परिंदे से यह शिकायत दूर हो जाती है कि हिंदी कथा-साहित्य अभी पुराने सामाजिक संघर्ष के स्थूल धरातल पर ही 'मार्कटाइम'' कर रहा है। समकालीनों में

निर्मल वर्मा पहले कहानीकार हैं जिन्होंने इस दायरे को तोड़ा है- बल्कि छोड़ा है; और आज के मनुष्य की गहन आंतरिक समस्या को उठाया है।''[32] अब मेरे मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि क्या इस कहानी से दो वर्ष पहले प्रकाशित कहानी 'दोपहर का भोजन' और 'जिन्दगी और जोंक' में मनुष्य के जीवन की गहन आंतरिक समस्या नहीं है ? जिस कहानी में अमरकांत जी लिखते हैं-(जिंदगी और जोक) "भिखमंगा नाटा था। गाल पिचके हुए, आँखें धंसी हुई और छाती की हड्डियाँ साफ बाँस की खपचियों की तरह दिखाई दे रही थीं। पेट नांद की तरह फूला हुआ। मार पड़ने पर बेहताशा चिल्ला रहा था, मैं बरई हूँ, बरई हूँ, बरई हूँ...''[33] जिस कहानी के पात्र 'रजुआ' के संदर्भ में स्वयं अमरकांत जी ने अपने उपर निर्मित दस्तावेजी फिल्म में कहा है-'स्वाभिमान से जीने की कोशिश तो करता है लेकिन बार-बार असफल हो जाता है।' इसके बाद भी नामवर जी नहीं रुकते हैं। अपने उसी पुस्तक में 'अच्छी कहानी' शीर्षक लेख के अंतर्गत लिखते हैं- "इधर बार-बार यह आवाज़ उठाई गई है कि सवाल 'नई कहानी' का नहीं बल्कि 'अच्छी कहानी' का है। गोया 'अच्छी कहानी' सिर्फ एक सवाल है और वह भी पहला। मिर्जा होते तो कहे बगैर न रहते 'इस सादगी पे कौन न मर जाय...।' इतना सीधा-सा सवाल कोई मासूम ही कर सकता है या फिर वह जिसे पूरा आत्मविश्वास हो कि उसके पास अच्छी कहानी का एक बना बनाया शाश्वत मानदंड है जो कहीं भी कारगर हो सकता है। साहित्यिक दुकानदार ही ऐसी बात और भाव इस्तेमाल कर सकते हैं।''[34] नामवर जी की इस बात से तो हमें सहमत होने में देरी नहीं होनी चाहिए कि 'बना बनाया शाश्वत मानदंड नहीं होना चाहिए।' लेकिन निर्मल वर्मा और अन्य नई कहानी लेखक की आलोचना के संदर्भ में नामवर जी कौन सा मानदंड का इस्तेमाल करते हैं यह जानना दिलचस्प होना चाहिए।

नई कहानी के दौर की रचना-प्रक्रिया के इस दौर से सम्बंधित तीसरा प्रश्न है ? इस संदर्भ में आलोचक सुरेन्द्र चैधरी अपने एक लेख 'नई कहानी :रचना-प्रक्रिया', वर्गसंस्कार के घेरे और संक्रांति का 'मिथ' में लिखते हैं-"सामाजिक परिवर्तन से साहित्यकार की चेतना-प्रक्रिया में उसके वैचारिक संघठन में, और अंततः उसकी रचना-प्रक्रिया में परिवर्तन के लक्षण उत्पन्न होते हैं । फलत: अपनी गतिशील चेतना की माँगों के अनुरूप साहित्य-क्षेत्र में वह परिवर्तन के प्रयत्न करता है ।"[35] नई कहानी का दौर भारतीय स्वतन्त्रता के बाद का दौर है । उस दौर में जनमानस की सामाजिक परिस्थिति बदली हुई थी, जिसका कहानीकारों ने कहानी रचना में ध्यान रखा । इसको लक्षित करते हुए सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है कि- "रचना-प्रक्रिया का दूसरा रूप है बोध-प्रधान कहनियों वाला। ऐसी कहानियाँ प्रेमचंद से ही शुरू होती हैं, किन्तु कालांतर में उनमें आवश्यक परिवर्तन, परिष्कार हुए हैं ।"[36]

सन् साठ के दशक में एक साथ कई कहानी आन्दोलन खड़े हो गये थे। जो एक तरह से देश की राजनीतिक-आर्थिक परिस्थतियों से प्रभावित थे । इस दशक में आज़ादी का असली चेहरा देश की जनता के सामने आ गया था। नेहरु का भी तिलिस्म टूट चुका था और विदेशी कर्ज देश के ऊपर बढ़ रहे था । जिससे जनता तो बेहाल थी ही, रचनाकार भी अछूते न रह सके । सत्तर का दशक नक्सलबाड़ी आन्दोलन का दौर था । इसने रचनाकारों को झकझोर दिया था । समकालीन कहानियाँ एक तरह से उपर्युक्त मुद्दों को अपना विषय-वस्तु बनाती हैं और इसके बाद नब्बे के दशक में अस्मितावादी आंदोलनों के उभार ने हिंदी कहानियों को खूब प्रभावित किया।

सन्दर्भ सूची

1. टेरी ईगलटन (प्र.सं. 2006), मार्क्सवाद और साहित्यालोचन, अंग्रेजी से अनुवाद: वैभव सिंह: आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), पृष्ठ: 78,
2. फ्रैंक ओ' कोन्नोर, कहानी: स्वरूप और अंतर्वस्तु, अंग्रेजी से अनुवाद: आनन्द स्वरूप वर्मा और हरभगवान मेंहदीरत्ता, देवीशंकर अवस्थी "(सम्पा), साहित्य विधाओं की प्रकृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली: पृष्ठ: 118,
3. जे॰ वर्ग इसेंविन, कहानी क्या है, अंग्रेजी से अनुवाद, नारायण कुमार, देवीशंकर अवस्थी (सम्पा), साहित्य विधाओं की प्रकृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ: 140,
4. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं. 1995), हिंदी कहानी: प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली: पृष्ठ. 11,
5. मार्कण्डेय (2013), हिंदी कहानी: यथार्थवादी नज़रीया, आंनदप्रकाश (सम्पा), भूमिका से, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद: पृष्ठ xx,
6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (2013), हिन्दी साहित्य का इतिहास, अनुपम प्रकाशन, पटना, पृष्ठ: 346
7. इग्नू पाठ्य सामग्री प्रियम अंकित द्वारा लिखित से उद्धृत
8. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन: नई दिल्ली, पृष्ठ.19
9. **प्रेमचंद, प्रेमचंद रचना संचयन, निर्मल वर्मा और कमल किशोर गोयनका (सम्पादक), साहित्य अकादमी, संशोधित संस्करण-2012, पृष्ठ-912**
10. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन: नई दिल्ली, पृष्ठ.29
11. **डॉ.मैनेजर पाण्डेय द्वारा गोरखपुर में दिए गए वक्तव्य से, 21 सितम्बर 2012**
12. डॉ. मैनेजर पाण्डेय (प्र. सं. 1974), साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला: पृष्ठ 65 ,
13. नामवर सिंह (2012), कहानी: नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद : पृष्ठ 18
14. सुरेन्द्र चौधरी (प्र. सं. 1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : पृष्ठ 11,
15. वही, पृष्ठ 16,

16. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5, सम्पादक : नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986 : पृष्ठ 19,

17. वही, पृष्ठ 24,

18. प्रेमचंद रचना-संचयन, सम्पादक : निर्मल वर्मा और कमल किशोर गोयनका, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली : पृष्ठ 219,

19. वही, पृष्ठ 171,

20. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5, सम्पादक : नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986 : पृष्ठ.24,

21. जयशंकर प्रसाद (2014), 'गुंडा', उद्भावना, वर्ष 28: अंक 114-115 (जुलाई-अक्टूबर): पृष्ठ 35

22. सुरेन्द्र चौधरी (प्र. सं. 1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : पृष्ठ 31

23. मधुरेश (प्र. सं.1996), हिन्दी कहानी का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद: पृष्ठ.37

24. टेरी ईगलटन (प्र. सं.2006), मार्क्सवाद और साहित्यालोचन, अंग्रेजी से अनुवाद: वैभव सिंह: आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), पृष्ठ.12

25. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं 1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : पृष्ठ 60

26. यशपाल, मक्रील, हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ, हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय : पृष्ठ .43

27. हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सुरेन्द्र चौधरी, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ 216

28. मधुरेश (प्र. सं. 1996), हिन्दी कहानी का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद: पृष्ठ 37

29. सुरेन्द्र चौधरी (प्र. सं. 1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : पृष्ठ 37

30. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5, सम्पादक : नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986 : पृष्ठ 34

31. नामवर सिंह (2012), कहानी :नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद : पृष्ठ 175

32. रविभूषण (2014), 'कथालोचक नामवर सिंह', पहल: अंक-97 (सितम्बर): पृष्ठ 49

33. नामवर सिंह (2012), कहानी :नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद : पृष्ठ 52

34. अमरकांत, जिन्दगी और जोंक,(प्र. सं. 2008), संकलित कहानियाँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली: पृष्ठ 18

35. नामवर सिंह (2012), कहानी :नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद : पृष्ठ 133

36. हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सुरेन्द्र चौधरी, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ 43

37. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं. 1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : पृष्ठ 73

अध्याय दो

प्रगतिशील आन्दोलन में कथा-आलोचना की दशा और दिशा और सुरेन्द्र चौधरी :

हिंदी साहित्य में 1936 के बाद का दौर प्रगतिशील आन्दोलन के दौर के नाम से जाना जाता है। प्रगतिशील आन्दोलन कब-से कब-तक था का सवाल जब भी आता है तो हमलोग उसे अपनी सुविधा के लिए एक कालखंड में बांधने का प्रयास करते हैं और बहुत हद तक सफल भी रहे हैं। जैसे कविता के क्षेत्र में 1943 और कहानी के क्षेत्र में 1954 तक इसी तरह अन्य विधाओं में भी एक समय-सीमा निर्धारित की गई । परन्तु प्रगतिशील शब्द की व्यापकता और प्रगतिशील आन्दोलन की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक क्षेत्रों में पहल और उसके यथार्थ को देखते हुए यह भान नहीं होता है कि प्रगतिशील आन्दोलन अपने मुकाम पर पहुँच गया हो । यह आन्दोलन साहित्य में मनोरंजनपरक और कल्पनापरक प्रवृति के विरूद्ध सामाजिक यथार्थ के दखल के लिए हुआ था (परन्तु हिंदी सहित्य में प्रेमचंद, निराला और महादेवी की रचनाओं में इसका प्रस्फुटन पहले ही हो चूका था)।

प्रगतिशील आन्दोलन की पृष्ठभूमि के बाद अब बात सीधे-सीधे प्रगतिशील साहित्य पर की जाए तो सबसे पहले प्रेमचंद द्वारा 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन (10 अप्रैल 1936 को) में दिया गया भाषण प्रासंगिक हो उठता है। प्रेमचंद ने साहित्य के उद्देश्य और साहित्यकारों के उद्देश्य पर बोलते हुए कहा था कि- "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है - उसका दर्जा इतना न गिराइए। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।... यदि साहित्य ने अमीरों का याचक बनने को जीवन का सहारा

बना लिया हो, और उन आंदोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो जो समाज में हो रही हैं-अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई कैद नहीं रही, जैसे महात्मा के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं, आध्यात्मिक उच्चता ही काफ़ी है, तो महात्मा लोग दर-दर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी निकल आए।"[1] प्रेमचंद ने अपने इस बहुप्रचलित वक्तव्य में साहित्य और साहित्यकार के लक्ष्यों की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है ।1936 से पहले ऐसा नहीं है कि सामाजिक यथार्थ का रेखांकन नहीं हुआ हो। जैसा कि उपर इंगित किया गया है कि प्रेमचंद, निराला और महादेवी की रचनाओं में प्रगतिशीलता के तत्व मिलते हैं और इनसे पहले भी भारतेंदु और द्विवेदी युग के रचनाकारों (भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी और यशोधरा इत्यादि रचनाएँ) ने तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का विरोध किया परन्तु वह विरोध ज्यादा अमूर्त ही रहा। 1857 की क्रांति से सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में तत्कालीन व्यवस्था से प्रतिरोध के स्वर की शुरूआत हो चुकी थी।

हिंदी कहानी में प्रगतिशील आन्दोलन के दौर को प्रेमचंदोत्तर हिंदी कहानी के नाम से जाना जाता है। इस दौर में मुख्य रूप से तीन तरह की विचारधाराओं का प्रभाव देखा जा सकता है-मनोविश्लेषणवाद, गांधीवाद और समाजवाद (मार्क्सवाद)। यह एक तरह से भारत के स्वाधीनता आन्दोलन का अंतिम दशक का दौर था। मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित कथाकारों में इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय प्रमुख थे। वहीं गांधीवाद से प्रभावित जैनेन्द्र कुमार। मार्क्सवादी कथाकारों में यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृत राय, रांगेय राघव को परिगणित किया जाता है। इन मार्क्सवादी कहानीकारों में कहानी के क्षेत्र में सर्वाधिक लम्बा सफर यशपाल का ही रहा। इस दौर की कहानियों और कहानीकारों के संदर्भ में साहित्य अकादमी

की ओर से 23 हिंदी कहानियों को सम्पादित करते हुए जैनेन्द्र कुमार ने भूमिका में लिखा था कि- "प्रेमचंद हमारे समस्त हिंदी साहित्य के इतिहास में एक युग-निर्माता रहे हैं। उनके अंतिम दिनों में ही प्रगतिवाद और समाजवाद के स्वर गूँजने लग गये थे बाद में हिंदी साहित्य में एक धारा इन वादों के सहारे बड़े जोर से बह निकली। लगता था, मानो उनके बहाव में सब कुछ बह जाएगा। कहानीकार के भी पैर उखड़ गए। वह सिद्धांतो को कहानी का रूप देने लगा। सहानुभूति के पात्र निश्चित हुए, आक्रोश के भी। जैसे साहित्य भी पक्षधर हो। आज जब वह लहर बहकर चली गई है, तब लगता है कि वह स्वयं अपने को ही बहा ले गई साहित्य जहाँ का तहाँ है। और कहानी भी उन्हीं आधारों पर टिकी है, जिन पर पहले टिकी थी। जिन कहानीकारों ने उस लहर में भी कहानी का साथ न छोड़ा उनमें यशपाल विशिष्ट हैं।"[2] ऐसे में नई कहानी के दौर के कथाकारों ने अपने को प्रेमचंदीय परम्परा से जुड़े रहना ही उचित समझा। प्रेमचंद के बाद के दौर में 'वादों' ने जिस तरह से कथाकारों को प्रभावित किया परन्तु प्रेमचंद का दौर भी 'वादों' के प्रभाव से अछूता नहीं रहा था। जैसे ख़ुद प्रेमचंद की रचनाओं का पूर्वार्द्ध और उतरार्द्ध देखने या निराला की रचनाओं को देखने से पता चलता है। रही बात पात्रों की सहानूभूति और आक्रोश की तो प्रेमचंद, प्रसाद और निराला की रचनाओं में इस तरह के पात्रों की भरमार है। इस सन्दर्भ में सुरेन्द्र चौधरी की यह टिप्पणी उल्लेखनीय है- "कहानी का बाहरी रूप उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना आन्तरिक स्थापत्य। घटनाओं का अंतर्क्षेप इन कहानियों के ढाँचे के लिए आवश्यक फार्मूला नहीं रह गया था, किसी भी एक घटना के सहारे कहानीकार विचार-वस्तु की सफल नियोजन कर लेने में समर्थ था। कहानी की निबंधना का वही रूप प्रेमचंद के बाद के कहानीकारों के सम्मुख नहीं था जो घटनाप्रधान के नाम पर चल रही थीं। मानवीय भावनाएँ, कथा के कारण घटनाओं के चमत्कारिक अंतर्भाव की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। जैनेन्द्र, भगवती चरण वर्मा, यशपाल, अज्ञेय पहाड़ी, इत्यादि स्थापत्य का विकास कर रहे थे जो प्रेमचंद की कहानियों में उभर कर आया था।"[3]

सुरेन्द्र चौधरी ने यहाँ दिखाने की कोशिश की है कि प्रेमचंद के बाद कथाकारों ने कहानियों के शिल्प के स्तर पर तो समानता थी परन्तु विषय-वस्तु के स्तर पर भिन्नता थी। जिसके अनेक कारण हो सकते हैं। उसमें प्रथम कारण विचारधाराओं का प्रबल रूप होना था वहीं दूसरा कारण सामाजिक, राजनैतिक यथास्थिति में बदलाव भी था। 1929 के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण आज़ादी का प्रस्ताव पास किया गया। सुरेन्द्र चौधरी ने जिस विषय-वस्तु के बदलाव को इंगित किया है। वह विषय-वस्तु सामाजिक यथार्थ का चित्रांकन करती है ऐसा महसूस नहीं होता है। प्रगतिशील आन्दोलन का जैसा प्रभाव कविता और उपन्यास विधा पर रहा वैसा प्रभाव कहानी पर प्रतीत नहीं होता है जैसा की यशपाल की प्रथम दो कहानियाँ 'मक्रिल'(1934) और 'पिंजरे की उड़ान' (1939) से ऐसा प्रतीत है। यह अलग बात है कि उसमें एक व्यवस्था के प्रति व्यंग्य है परन्तु धारदार व्यंग्य महसूस नहीं होता। इससे अच्छा व्यंग्य तो प्रेमचंद की 'पूस की रात' (1930) या व्यवस्था का प्रतिरोध पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानी 'चिंगारियाँ' में है। 'मक्रिल' कहानी जिस तरह से प्राकृतिक वतावरण और फिर पंजाब के वतावरण से शुरू होती है। उसमें एक प्रसंग आता है- "जनता की उन्मत्तता के कारण मोटर को दस कदम पीछे ही रूक जाना पड़ा-'राष्ट्र के मुकुट-मणि की जय !' 'के नारों से पहाड़ियाँ गूँज उठी।"[4] इससे पहले भी इस कहानी में व्यंग्य 'यूरोप और अमेरीका जिसके प्रतिभा का लोहा मान लिया हो' के रूप में दिखाया गया है। यह व्यंग्य दरअसल तत्कालीन व्यवस्था के अलमबरदारों के प्रति है। जैसा कि चौधरी जी ने संकेत किया है -"वास्तविक जीवन की हलचलों, टकराहटों और तनाव से टूटकर यशपाल की कहानियाँ अतीतजीवी रोमांसों में ठहर जाती हैं। पुराणगथाओं में यशपाल के लौट जाने की शिकायत राजेन्द्र यादव ने गलत नहीं की है। वर्तमान बार-बार यशपाल की पकड़ से छूटने लगता है।"[5] यह इशारा उनके उपन्यासों और कहानियों के प्रति है। यशपाल के उपन्यासों का मुख्य आधार सामाजिक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक और पौराणिक भी रहे हैं। कहानियों में एक उनकी

कहानी है 'वैष्णवी' यह कहानी हिन्दू रीति रिवाजों से शुरू होती है। फिर हिन्दू समाज में एक लड़की या स्त्री के विधवा होने के बाद उसके माता-पिता और उस स्त्री की दीनता का चित्रण है। इस कहानी में एक प्रसंग है -"हिन्दू वैधव्य है, नारी शरीर और नारी का स्वभाव और प्रकृति पाकर, नारीत्व के स्वभाव और प्रकृति के अधिकारों से वंचित हो जाने, निरंतर अपनी ही प्रकृति से लड़ने, अपने में जलते रहने, मरते रहने का धर्म निबाहने का दंड।"[6] यशपाल जिस विचारधारा के वाहक माने जाते हैं। उसके मूल में सामाजिक विडम्बनाओं से प्रतिरोध है। परन्तु इस कहानी के पात्र कही भी प्रतिरोध करते नहीं दिखते हैं। जिसके संदर्भ में मार्कंडेय लिखते हैं कि- "फलत: यशपाल ने जाहिर तौर पर जीवन की जिन समस्याओं का चुनाव किया, वे प्रगतिशील तो थी, लेकिन उनसे कहानी की मूल प्रकृति पर कोई असर नहीं आया। कल्पना की देह पर जहाँ आदर्शों की सफेद टोपी थी, वहीं अब लाल कर दी गई।"[7]

यशपाल की प्रसिद्ध कहानियों में- 'मक्रिल' (1934),' पिंजड़े की उड़ान' (1939), 'फूलों का कुर्ता' (1949), 'परदा' और 'दूसरी नाक' इत्यादि हैं। यशपाल की कहानियों के मूल में व्यंग्य है। जैसा कि सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है कि "परदा' या 'साईं सच्चे', 'नमक हलाल' जैसे 'कथानक' वाली कहानियाँ हों या 'मैं होली नहीं खेलता', 'गुडबाई दर्देदिल', 'आदमी का बच्चा' जैसी व्यंग्य विचार वाली कहानियाँ, ढाँचा सबका एकतान और पूर्ण है। कहानी के इस एकतान ढाँचें को लेकर जितने प्रयोग यशपाल जी ने किए हैं उतने उनके सामयिक लेखकों में शायद ही ने किए हों।"[8] इस दृष्टि से उनकी कहानी 'परदा', 'फूलों का कुर्ता', और 'दूसरी नाक' महत्त्वपूर्ण कहानी है। 'दूसरी नाक' कहानी जब्बार के विवाह से शुरू होती है। उसका बाप चाहता है जब्बार की शादी किसी और लड़की से करना परन्तु जब्बार को शब्बू से शादी करनी थी। इसी तरह के संवाद से कहानी शुरू होती है। आखिर में शब्बू से ही जब्बार की शादी होती है। फिर शादी के बाद की परिस्थितियों का अंकन है। कहानी मोड़ लेती है अंत होते

समय जब जब्बार शब्बू का नाक काट लेता है। कहानी के अंत में बहुत मार्मिक व्यंग्य है – "शब्बू पूरे दो दिन उपवास से रही तो जब्बार ने रबड़ की नाक की कीमत चालीस रूपये डॉक्टर के यहाँ जमा करवा दी परन्तु पत्नी से वायदा ले लिया कि शब्बू नाक लगाएगी जरूर लेकिन गैर मर्द उसे घूरेगा तो झट नाक उतारकर जेब में डाल लेगी।"[9] ऐसे में यशपाल के समकालीन समान विचारधारा के रचनाकार नागार्जुन की कहानियाँ याद आती हैं जो लगभग इसी व्यंगात्मक लहजे में लिखी गई हैं। नागार्जुन (हालाँकि न के बराबर कहानियाँ लिखी) की 'असमर्थ दाता' (1936)और 'ताप–हिरणी' (1945) इत्यादि कहानियाँ इस दृष्टि से देखी जा सकती हैं।

यशपाल के बाद इस दौर के महत्त्वपूर्ण कहानीकार जैनेद्र और अज्ञेय हैं। यशपाल के बाद जैनेन्द्र ने अपनी विचारधारा के हिसाब से कहानियाँ लिखी हैं जैसा की उपर इंगित किया गया है कि जैनेन्द्र 'गांधीवाद' से प्रभावित रचनाकार थे। इसके संदर्भ में जैनेन्द्र की एक बात भी उद्धृत की गई है। जिसमें उन्होंने अपने दौर के कहानीकारों और कहानियों के बारे में उन्होंने विचार व्यक्त किया है। इसके संदर्भ में मधुरेश लिखते हैं- "जैनेन्द्र और यशपाल दोनों ही विचारों से अपनी कहानियाँ बुनते हैं।... जैनेन्द्र कहानी में जीवन की वास्तविकता का वह जैसा है, तिरस्कार करके आगे बढ़ते हैं।... जैनेन्द्र वास्तविक और यथार्थ जीवन की अपेक्षा अवास्तविक और अमूर्त जीवन में गहरी अभिरूची रखते हैं।... जैनेन्द्र जिन्हें अपनी प्रतीकात्मक कहानियाँ कहते हैं, उनके विषय में उनका कहना है; 'इन कहानियों में भाव प्रधान है, यथार्थ अप्रधान।"[10] जैनेन्द्र की कहानियों की विषय-वस्तु स्त्री-पुरूष संबंधों पर केन्द्रित रही है। जैनेन्द्र की कहानियों में गांधीवादी विचारधारा का उनकी एक कहानी 'गदर के बाद' के प्रसंगों से पता चल जायेगा। "राजधर्म का पहला नियम है कि शासन से न्याय अलग होकर ऊपर रहे। शासन की निरंकुश होने की और वृति होती है। अधिकार मद है। अधिकार की

आदत अधिक अधिकार माँगती है । न्याय उस पर अंकुश रखे । शासन न्याय के प्रति उत्तरदायी रहे, और शासन न्याय की माँग और न्याय के हुक्म को पूरा करे और उसके नियम की मर्यादा में रहे ।"[11] पूरी कहानी का ढाँचा सन् 57 की क्रांति के उपर निर्मित है। कहानी की शुरूआत ("सन् 57 में हिंदुस्तान ने लाल दिन देखे ! तब धरती पर खून बहा और आसमान पर उछल-उछल आया। उन्हीं दिनों की बात है - ।"[12]) भी 'कैदी के भागने' से होती है। जो कि एक तरह से प्रतिरोध भी है । जिसकी अंतरात्मा 57 की क्रांति की भी थी ऐसे में उपर उद्धृत अंश जैनेन्द्र की वैचारिकी को उजागर करता हुआ मालूम पड़ता है। सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है कि- "जैनेन्द्र को अपने पात्रों के व्यापारों को सांकेतिक रूप से ही सामान्य बनने देना इष्ट है, वे सिद्धांतत: ऐसा करने के पक्षपाती नहीं हैं। जहाँ वे व्यक्ति के व्यवहारों तक अपने को सीमित रखते हैं वहाँ उनकी कहानियाँ मर्म में प्रवेश करती हैं, किन्तु जहाँ वे अपने पात्रों से दार्शनिक मुद्राओं में चिंतन करवाते हैं वहाँ वे आत्यंतिक रूप से विरूप हो उठते हैं, सामाजिकता उनके लिए दम्भ है, व्यक्ति की नैतिकता के अतिरिक्त वे सारे 'नार्म्स' को कृत्रिम और व्यक्ति-विरोधी मान बैठते हैं, भावना के ज्वार में जीवन के समाज-व्यापी सत्यों की अवहेलना करने लग जाते हैं। उनकी रचना-प्रक्रिया में यह दोष सर्वाधिक स्पष्ट है। जैनेन्द्र को अपने तर्क प्रिय हैं, तर्क के प्रमाण में वे सामान्य सत्य को भी अजीब ढंग से प्रस्तुत करने के आदि हो गए हैं ।"[13] इसी तर्क के आधार पर जैनेन्द्र की एक कहानी 'नीलम देश की राजकन्या' को परखने की कोशिश कि जाए तो इस कहानी की शुरूआत ऐतिहासिक तरीका से पौराणिक कथाओं पर आधारित है। जिसको परिचित कराते हुए जैनेन्द्र लिखते हैं कि "वह सात समुंदर पर जो नीलम का द्वीप है, वहाँ की कहानी है।"[14] उसके बाद राजकन्या का चित्रण है कथा आगे बढती है तो आगे कहानी में राजाओं (राजकुमार और राजकन्या) के वैभव और विलास पूर्ण जीवन के साथ कहानी बढती जाती है। उसी में राजकन्या के साथ किन्नरी बालाओं का हसी मजाक का भी चित्रण कहीं-कहीं पर है । फिर आगे अकेलेपन का (राजकन्या की) चित्रण है । इसी तरह अनेक

अलग-अलग प्रसंगों को लेकर कहानी चलती है। कहानी के अंत में राजपुत्र आते हैं उसके बाद किन्नरी बालाओं के चित्रण के साथ-साथ राजकन्या के मन का उद्वेलन का चित्रण है। कहानी के अंत में यह उद्वेलन और बढ़ता है-"इसके बाद राजकन्या उठकर अपनी किन्नरी सखियों के साथ एक-एक से गले मिली। अनन्तर वह हर प्रकार की क्रीडा में मग्नभाव से भाग लेने लगी और फिर अवसाद उसके पास नहीं आया।"[15] इस प्रकार कहानी में एक नायिका की अभिजात्य वर्गीय विलासता का चित्रण तो है ही परन्तु कहानी के अंतिम हिस्सों में जैनेन्द्र का मनोविश्लेषणवाद प्रखर हो उठता है।

1936 से 1954 तक के दौर में यशपाल और जैनेन्द्र के अलावा अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी महत्त्वपूर्ण कथाकार थे | इन दोनों ही कहानिकारों ने फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के आधार पर कहानियाँ लिखीं। इस संदर्भ में सुरेन्द्र चौधरी का एक कथन ध्यातव्य है-"अज्ञेय की कहानियों की रचना प्रक्रिया अधिकांशत: आत्मविवृतिमूलक और शोधात्मक है, इसलिए उनकी कहानियों की एक अलग विधा (जाँर) ही है जिसे हम 'क्वेस्ट स्टोरी' की संज्ञा दे सकते हैं। आत्मान्वेषण अज्ञेय की कहानियों में ही नहीं उनके उपन्यासों में उदाहृत होता है। शेखर के संबंध में उन्होंने लिखा है- "...जैसे क्रिस्तोफ में लेखक एक आत्मान्वेषी के पीछे चला हूँ।" अज्ञेय की अधिकांश कहानियों में 'प्रथम पुरूष कथावाचकता' का कारण भी यही है।"[16] इसी आत्मविवृतिमूलकप्रवृति के आधार पर अज्ञेय की पहली ही कहानी 'विपथगा' में देखा जा सकता है। 'विपथगा' कहानी कुछ अमूर्त कहानी लगती है। पढ़ने के बाद महसूस होता है कि कथा नायक अपने आप से बात कर रहा है। पूरी कहानी 'मैं' शैली (आत्मकथात्मक) में विश्लेषित महसूस होती है। बीच में नायक अपने आप से संवाद करता है और एक क्रान्तिकारिणी का संवाद है। कहानी में क्रान्तिकारिणी और उस नायक का संवाद- "अभी एक घंटा भी नहीं हुआ। उसी की तलवार, इन हाथों ने उसी के हृदय में भोक दी तुम पूछोगे, क्यों

? शायद तुम्हे नहीं मालूम कि स्त्री कितना भीषण प्रतिशोध करती है ।"[17] उस क्रांतिकारिणी और तथाकथित क्रांतिकारी नायक (तथाकथित कहने का अभीष्ट क्रान्तिकारिणी के इस प्रसंग से पता चल जायेगा। ... "मैने सुना था कि क्रांतिकारियों से आपको सहानुभूति है और आपने इस विषय पर व्याख्यान भी दिए हैं। इसी सहानुभूति की आशा से आपके पास आई हूँ।"[18]) के बीच बातचीत के दौरान क्रान्तिकारिणी एक रक्तरंजित तलवार निकालती है जो गोरोवस्की के यहाँ से चोरी की गई होती है और इसी से उस पर प्रहार करती है। वह तलवार दिखाती है फिर आगे क्रांति और क्रांतिकारिता पर संवाद है। कहानी आगे हिंसा और अहिंसा पर संवाद करते हुए आगे बढ़ती है। परन्तु क्रान्तिकारिणी की एक बात बहुत प्रतिरोधात्मक है। एक तरह से शायद उस समय जब पितृसतात्मकता के विरुद्ध न के बराबर आवाज़ उठ रही होगी तब यह बात नोटिस लेने लायक महसूस होती है। जब क्रान्तिकारिणी कहती है 'शायद तुम्हे नहीं मालूम कि स्त्री कितना भीषण प्रतिशोध करती है।' यह कहानी की मूल संवेदना होनी चाहिए परन्तु कहानी में बहुत सारे प्रसंगों के कारण यह प्रसंग दबा सा महसूस होता है। इस पूरी कहानी को पढ़ने के बाद महसूस होता है कि जैसे अज्ञेय अपने आप को ही प्रस्तुत कर रहे हैं। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जैसा कि सर्वज्ञात है कि अज्ञेय का शुरूआती जीवन क्रांतिकारिता से जुड़ा हुआ था। 'विपथगा' कहानी का अंत बिखरा हुआ सा महसूस होता है। कथा नायक क्रान्ति का कार्य छोड़ अब अध्ययन अध्यापन करने लगता है उसके बाद उसके विभिन्न मनोदशाओं का चित्रण है। मार्कण्डेय ने उनकी कहानी 'शेखूपुरे के शरणार्थी' की समीक्षा करते हुए लिखा है कि- "हैरत की बात है कि अज्ञेय ने जहाँ भी एक राजनीति का विरोध किया है वहीं एक दूसरी कमजोर राजनीति ने जन्म लेकर उनकी रचना को पंगु और प्रचारात्मक बना दिया है।"[19] इसका भान अगर गौर से पढ़ा जाए तो 'विपथगा' में भी हो जायेगा।

सन्दर्भ सूची

1. प्रेमचंद रचना-संचयन, सम्पादक : निर्मल वर्मा और कमल किशोर गोयनका, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली : पृष्ठ 921
2. 23 हिंदी कहानियाँ, सम्पादक :जैनेन्द्र कुमार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद : पृष्ठ -12
3. सुरेन्द्र चौधरी (प्र. सं. 1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : पृष्ठ-33,
4. यशपाल, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल,नई दिल्ली (प्र.सं.)1997 : पृष्ठ-35
5. सुरेन्द्र चौधरी, इतिहास संयोग और सार्थकता, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ 161
6. यशपाल, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल,नई दिल्ली (प्र.सं.)1997 : पृष्ठ-70
7. मार्कण्डेय (2013), हिंदी कहानी: यथार्थवादी नज़रिया, आंनदप्रकाश (सम्पा), भूमिका से, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद: पृष्ठ 123
8. . सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन: पृष्ठ 36
9. यशपाल, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल,नई दिल्ली (प्र.सं.)1997 : पृष्ठ-134
10. मधुरेश (प्र. सं.1996), हिन्दी कहानी का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद: पृष्ठ 41
11. जैनेन्द्र रचनावली, खण्ड-4, सम्पादक : निर्मला जैन (सह सम्पा.-प्रदीप कुमार), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,(प्र.सं.-2008) :पृष्ठ 49
12. वही, पृष्ठ-42

13.सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन: पृष्ठ 63

14.जैनेन्द्र रचनावली, खण्ड-4, सम्पादक : निर्मला जैन (सह सम्पा.-प्रदीप कुमार), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,(प्र.सं.-2008) :पृष्ठ 387

15.वही,पृष्ठ-64

16.सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन: पृष्ठ 64

17.23 हिंदी कहानियाँ, सम्पादक :जैनेन्द्र कुमार, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद :पृष्ठ - 192

18.वही, पृष्ठ-191

19.मार्कण्डेय (2013), हिंदी कहानी: यथार्थवादी नज़रिया, आंनदप्रकाश (सम्पा), भूमिका से, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद: पृष्ठ 133

अध्याय तीन

नई कहानी आन्दोलन में कथा-आलोचना की दशा और दिशा और सुरेन्द्र चौधरी :

हिंदी साहित्य में पचास का दशक 'नयी कहानी' आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। ये दौर भारतीय समाज और संस्कृति के लिए अत्यंत आश्चर्यजनक दौर था क्योंकि भारत अब आजाद हो चुका था। इस आजादी का सच जनमानस के सामने था। भगत सिंह का कथन 'गोरे अंगरेज जायेंगें काले अंगरेज आयेंगें' सच होता दिख रहा था। वैचारिक स्तर पर नेहरू का समाजवाद दो भागों (जयप्रकाश नरायण और जवाहरलाल नेहरू) में विभक्त हो चुका था और भारत में पूर्णत: नौकरशाही की स्थापना हो जाती है। वामपंथी आन्दोलन अपने उफान पर था। इस स्वतंत्र भारत की परिस्थितियों को नामवर सिंह 'पीड़ा भरी प्रतीक्षा' कहते हैं। वैश्विक स्तर पर 'चीनी क्रांति' और दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद शीतयुद्ध की शुरूआत हो चुकी थी। 1944 में अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आँच मद्धिम पड़ चुकी थी और अमरीकी साम्राज्यवाद का उदय बस होने ही वाला था। इन्हीं सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के बीच नयी कहानी आन्दोलन की शुरूआत होती है। इस दौर के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलोचक नामवर सिंह और सुरेन्द्र चौधरी माने जाते है। अब जिज्ञासा उत्पन्न होता है कि कौन सा ऐसा हिंदी कहानी में बदलाव आ गया कि इस दौर को 'नयी कहानी' के नाम से जाना जाने लगा ? इस पर विचार करने हेतु इन दोनों आलोचकों की 'कहानी' सम्बन्धी विचारों को ध्यान में रखेंगे। 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' 1962 ई. में और 'कहानी : नयी कहानी' 1965 ई. (लेखमाला के रूप में 1955 से शुरू) में दो महत्त्वपूर्ण

कहानी आलोचना से सम्बन्धी पुस्तकें हमारे सामने होती हैं। मैं ऐसा इसलिए लिख रहा हूँ कि मैं अपनी बात केवल इन्ही दो आलोचकों तक सीमित कर सकूँ। अब चर्चा कहानी रचना-विधान से शुरू करना चाहूँगा क्योंकि इन दोनों ही आलोचकों का मत 'नई कहानी' के उदय के बारे में सुरेन्द्र चैधरी लिखते हैं-"नई कहानी में क्रमशः भावधारा और विचारधारा को लेकर टकराहटें प्रबल होती चली गईं। अपने सम्पूर्ण वेग में यह 1962 की एक लेखमाला में प्रकट हुई जिसे नामवर जी लिख रहे थे।...कहानियों की पड़ताल के स्तर पर इस लेखमाला का विशेष महत्त्व है। साथ ही इसमें कुछ ऐसी समस्याएँ भी जुड़ जाती हैं जिनसे नई कहानी के स्वरूप को लेकर एक बहस पैदा हुई।... जिसे नई कहानी कहा गया वह 'कहानी' के समय में लिखी जा चुकी थी। भीष्म साहनी, अमरकांत, शेखर जोशी, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, रघुवीर सहाय, मार्कंडेय, शिवप्रसाद सिंह, रेणु और तमाम दूसरे लोग 1960 तक लगभग अपनी पहचान बना चुके थे। इसीलिए नई कहानी का व्यापक और संश्लिष्ट आधार 1950-60 बीच बन गया इसी नींव पर नई कहानी खड़ी हो सकती थी।"[1] चौधरी जी का यहाँ आशय नई कहानी के दौरान उत्पन्न वैचारिक टकराहट भावधारा के विलगाव से है। भावधारा के विलगाव के कारण ही रेणु, मार्कंडेय, शिवप्रसाद सिंह, एक ही विषय-वस्तु आंचलिकता को आधार बना कर कहानियाँ लिखतें हैं। जबकि अमरकांत निम्न मध्यवर्गीय विडम्बनाओं को उजागर करते हैं शेखर जोशी पहाड़ी जीवन को अपनाते हैं । मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा की कहानियों का विषय-वस्तु उन कहानीकारों से सर्वथा अलग है।

कहानी रचना विधान के सन्दर्भ में सुरेन्द्र चौधरी लिखते है – "कहानी रचना- विधान कल्पनाश्रित होकर भी जीवन के क्रियात्मक रूप से अलग नहीं होता। सच पूछा जाये तो कहानी आज अन्य कलाओं और साहित्य-रूपों की तुलना में जीवन की इस क्रियात्मक

वास्तविकता को सबसे अधिक सफलता से उदाहृत कर रही है"[2] क्योंकि कहानी अपने स्वरूप में छोटे होने कारण पाठक के बीच अत्यंत लोकप्रिय विधा है। इसके अलावा कहानी में काल्पनिकता का समावेश होने के बावजूद वह लेखक की वास्तविकता से भी जुड़ी हो सकती है। कहानी में लेखक की भावधारा और विचारधारा दोनों का समिश्रण हो सकता है।

हिंदी कहानी पर चर्चा करने के दौरान रचना-प्रक्रिया को सुरेन्द्र चौधरी और नामवर सिंह अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इसके संबंध में नामवर सिंह लिखतें हैं- ''सवाल यह है कि वह प्रक्रिया क्या ? कहानी पढ़ने की भी एक प्रक्रिया है, जैसे कहानी लिखने की। अपने यहाँ दोनों ही पर ध्यान कम दिया गया है। रचना-प्रक्रिया पर कवियों ने जरूर लिखा है और उनकी देखादेखी दो-एक कहानीकार ने भी कहानी की रचना-प्रक्रिया को अंकित करने का प्रयत्न किया है। बेहतर है, अपनी समस्या का समाधान स्वयं कहानीकार ही करें। हमारा संबंध कहानी पढ़ने से है और किसी चीज को समझने, समझ कर आयात करने का अचूक तरीका है उसकी प्रक्रिया को समझना।''[3] इसी के बरक्स सुरेन्द्र चौधरी लिखतें हैं –''कहानी की रचना-प्रक्रिया के संबंध में किसी भी दो कहानीकार का एकमत होना संभव नहीं है, क्योंकि रचनात्मक साहित्य का कोई प्रक्रियात्मक फार्मूला नहीं होता। फिर भी, रचना की प्रक्रिया में एक सर्वसामान्य विधि का विकास तो स्वयं हो ही जाता है। इस सम्बब्ध में प्रसिद्ध कहानीकार जॉन बोलैंड (John Boland)का कहना है- ''सिर्फ विचार कहानी के निर्माण के लिए पूर्ण नहीं होता, किन्तु उसे आना चाहिए प्रथमत:। एक बार यदि विचार आ गया तो उसके आधार पर आप आगे बढ़ सकते हैं।''[4] इन दोनों ही कथनों पर गौर करें तो नामवर सिंह कहानी रचना-प्रक्रिया को कहानी को पढ़ने या पाठ से जोड़ देते हैं। उसी लेख में आगे वे लिखतें हैं- "कहा जा सकता है कि पढ़ना एक तरह का अनुवाद है।... कहानी-पाठ की प्रक्रिया, एक प्रकार से निर्मल वर्मा की 'डायरी का खेल' है। एक डायरी है जो एक अरसे तक सिर्फ एक की थी : एक

की नितांत निजी; कुछ देर बाद वह दो की हो गई। एक ही डायरी में दोनों को लिखना है। पहले एक आदमी एक वाक्य लिखेगा, उसके बाद दूसरा उसका उत्तर लिखेगा या चाहे तो सवाल के जवाब में सिर्फ सवाल ही कर सकता है। इस खेल में जो नहीं लिख पायेगा उसकी हार मानी जाएगी।"[5] नामवर सिंह इस प्रकिया को पाठ से जोड़ देते हैं। उसपर बहुत हल्के ढंग से विचार करते हैं जबकि सुरेन्द्र चौधरी रचना-प्रक्रिया को बेहद संवेदनशील कहानियों के सन्दर्भ में मानते हैं और पाठ पर अलग से विचार करते हैं – "इधर एक अर्से से हिंदी पात्रों में कहानी की पाठ-प्रक्रिया को लेकर प्रश्न उठाये जा रहे हैं। पाठ-प्रक्रिया का संबंध मूलभूत रूप से इस प्रश्न से है कि कहानी को सूक्ष्म और सक्रिय रूप से पढ़ा जाए। प्रश्न जरा टेढ़ा है और स्पष्टता की माँग करता है। क्या कारण है कि आज की कहानियों के साथ ही यह प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण रूप से उभरा है ? क्या आज के पहले की कहानियों में ऐसा कुछ नहीं है जो सूक्ष्मता और सक्रियता की माँग करता हो ? प्रश्न नया हो सकता है लेकिन इस प्रश्न में अन्तर्निहित सत्य नया नहीं है। हाँ ! यह जरूर है कि पहले की कहानियों की तुलना में आज की कहानियाँ ज्यादा अंतर्मुख हैं, ज्यादा जटिल हैं।"[6] इस उद्धरण से कहानी के 'पाठ' सम्बन्धी सुरेन्द्र चौधरी का लगाव हमारे सम्मुख होता है। इसी संबध में वे अश्क और मार्कण्डेय के बीच बातचीत का उल्लेख करते हैं फिर आगे नामवर सिंह और डेनिस थाँम्पसन का भी मत प्रकट करते हैं – "कहानीकार मार्कण्डेय ने कहानीकार अश्क के संग्रह 'पलंग' की समीक्षा करते हुए संगृहीत कहानियों की आलोचना की, तो अश्क जी ने एक पत्र में लिखा- कहानी जितने ध्यान से पढ़े जाने की माँग करती है, उतने ध्यान से तुमने उसे नहीं पढ़ा। इसी पत्रिका में, जिसमें यह पत्र प्रकाशित हुआ था, मार्कण्डेय साहब ने आलोचकों की समझदारी पर तरस खाते हुए लिखा था – क्या वह (अर्थात् आलोचक) कहानी के पाठ के प्रति सचेत है ? कहानी के पाठ के संबध में विभिन्न क्षेत्रों से आती हुई इस चेतावनी पर ध्यान गया तो डा. नामवर सिंह की बात याद आ गई। उन्होंने हिंदी पाठक-समुदाय की पाठ-सम्बन्धी चेतना पर लिखा है – कुल

मिलाकर इस पाठक- समुदाय का पढ़ने का ढंग बहुत कुछ एक-सा है, चाहे वह हल्का-फुल्का हो या गंभीर, पेशेवर हो या स्वेच्छा-स्वीकृत, है वह अंततः असाहित्यिक। इसके उपरांत उन्होंने लिखा – इस समुदाय में ज्ञान, दृष्टि और रुचि का भेद चाहे जितना हो, किन्तु इसके पढ़ने का जो ढंग है उससे किसी अच्छी नयी कहानी का चुना जाना संदेहास्पद है।... डेनिस थाँम्पसन ने किसी लेखक को उद्धृत किया है- कला के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया के प्रकार में और उसकी सामान्य मानवीय अस्तित्व के प्रति तत्परता में एक प्रकार का अनिवार्य संबंध होता है।"[7] इस तरह सुरेन्द्र चौधरी रचना प्रक्रिया और पाठ के महत्त्व को रेखांकित करते हैं जबकि नामवर सिंह गंभीरता से विचार नहीं करते हैं।

'नयी कहानी' आन्दोलन के दौरान की कहानियों पर बात करते वक्त दोनों ही आलोचक 'कथानक' की भी चर्चा करते हैं। नामवर सिंह लिखते हैं – "जिसे 'कथानक' कहा जाता है, वह दरअसल पाठक के दिमाग की उपज है। कहानीकार तो कहानी की रचना करता है; उसे संक्षिप्त और सरल करके 'कथा-सूत्र' निकालने का काम पाठक करता है। एक संश्लिष्ट अनुभव- पुंज को अगल-बगल से काट-छाँट कर जो सीधी-सपाट चीज प्रायः निकाली जाती है, उसका सारा श्रेय पाठक है और वह एकदम पाठक की अपनी रचना है। कहानीकार इस मामले में निर्दोष है। काश कि पाठक अपनी इस रचना के प्रति आत्म सजग होता।"[8] नामवर जी यहाँ भी पाठक को कथानक निर्माण के सामने लाते हैं जबकि सुरेन्द्र चौधरी रचनाकार को सामने लाते हैं - "एक कहानीकार विचार के रूप में कहानी की अवधारणा कर लेने के पश्चात् उसका कथानक निर्मित करता है, उसका वस्तु-निरूपण करता है। इस वस्तु-निरूपण के सिलसिले में कभी-कभी उसे अवधार्य विचार की असंगति सूझ जाती है और वह उसे अपने कथानक के प्रकाश में थोड़ा परिवर्तित या परिष्कृत करता है। पर इससे मूल विचार का क्षय नहीं होता, बल्कि उसका प्रभाव और निखर जाता है। वस्तु-निरूपण भी, विचार की

अवधारणा की तरह, व्यक्तिगत रुचि और शक्ति के अनुसार अलग-अलग है। वस्तुतः यही वैविध्य सामान्यत: कहानियों में अभिव्यक्त होता है। नए विचारों की अवधारणा तो यदा-कदा ही कहानीकार कर पाता है। अनेक कहानियों में विचार का साम्य दिख सकता है, किन्तु प्रत्येक कहानीकार उसे अपने-अपने 'कोण' से विकसित करता है। पर्सी ल्युबॉक ने इसी 'कोण' को कथा का फॉर्म कहा है।''[9] सुरेन्द्र चौधरी कथानक के निर्माण में कथाकार की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। यह चर्चा यहाँ इसलिए की गई है कि 'नयी कहानी' की प्रथम रचना तय करते वक्त कहानी के इन बिन्दुओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

ऊपर कहानी के मूलभूत बिन्दुओं पर चर्चा करने के बाद सीधे-सीधे 'नयी कहानी' कहानी और कहानीकारों पर आते हैं। बात शुरू करने से पहले अध्याय के शुरूआत में दिए गए कथनों पर ध्यान देना होगा। सुरेन्द्र चौधरी का विचार है, 'सामयिक जीवन-परिस्थिति अपने प्रस्तार में जितनी जटिल है शायद उससे अधिक जटिल वह अपने आंतरिक रूप में है', 'नई कहानी में क्रमशः भावधारा और विचारधारा को लेकर टकराहटें प्रबल होती चली गईं', नामवर सिंह कहते हैं 'शिल्प की नवीनता सामान्यत: लोगों का ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करती है।' एकतरफ नई कहानी आन्दोलन के उदय में 'सामयिक जीवन-परिस्थिति' को महत्त्व देते है जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है वही दूसरी तरफ नामवर सिंह 'शिल्प की नवीनता' की बात करते हैं जबकि दोनों ही आलोचकों की विचारधारा समान है। खैर अब बात फिर वही जहाँ निर्मल वर्मा की कहानी परिन्दे को नामवर सिंह नई कहानी की प्रथम कहानी मानने के पक्ष में बात करते हैं। इस संदर्भ में वें लिखते हैं- "नये बिंब वस्तुतः नये कहानीकारों के विकसित ऐन्द्रियबोध के सूचक हैं और जो कहानीकार जितना ही संवेदनशील है, उसकी कहानी का वातावरण उतना ही मार्मिक और सजीव हुआ है। इस दृष्टि से निर्मल वर्मा की कहानियाँ सबसे अधिक प्रभावशाली हैं। संगीत की जैसी सूक्ष्म संवेदना निर्मल ने व्यंजित की

है, वह नयी कहानी की बहुत बड़ी उपलब्धि है। 'परिंदे' कहानी में 'पियानो के संगीत के सुर रुई के छुई-मुई रेशों से अब तक मस्तिष्क की थकी-माँदी नसों पर फड़फड़ा रहे हैं। संगीत के सुर मानों एक ऊँची पहाड़ी पर चढ़कर हाँफती हुई साँसों को आकाश की अबाध शून्यता में बिखेरते हुए नीचे उतर रहे है।'...परन्तु निर्मल की कहानियाँ नयी कहानी के एक और तत्व सार्थकता की और ध्यान आकृष्ट करती हैं, जिसे अंग्रेजी में 'टेक्स्चर' कहते हैं। नयी कहानी के प्रसंग में यदि 'सम्प्रेषणीयता' का कोई अर्थ हो सकता है,तो रस-बोध के विवध स्तरों की प्रेषणीयता।''[10]इसी के बरक्स हम सुरेन्द्र चौधरी के दो पुस्तकों से दो अंश उद्धृत करते है। पहला 'हिंदी कहानी :प्रक्रिया और पाठ' से "निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' में जीवन-प्रवाह की एक दूसरी ही मुद्रा है। लतिका अतीत में लौट नहीं सकती, मगर अतीत उसे प्रिय है क्योंकि इस अतीत के साथ अक्षय स्मृतियाँ हैं, जीवन की सार्थकता है। वह अपने जीवन-लक्ष्य को नहीं पाएगी क्योंकि वह स्वयं अतीत है, व्यतीत है, मगर फिर भी जिजीविषा उसे प्रेरित करती है। वह अपने चारों और फैली विश्व-शक्तियों से अपरचित नहीं है, मगर इस भयावह परिचय के बावजूद वह अपने व्यतीत की रक्षा के लिए सचेष्ट है। इससे गहरी सचेष्टता हमें मोहन राकेश की कहानी 'मिस पाल' में मिल जाती है।''[11] और दूसरा 'हिंदी कहानी : रचना और परिस्थिति' से 'परिन्दे' का डॉ. मुखर्जी कहता है, "वैसे हम सबकी अपनी-अपनी जिद होती है, कोई छोड़ देता है, कुछ लोग आखिर तक उससे चिपके रहते हैं।... कभी-कभी मैं सोचता हूँ मिस लतिका, किसी चीज को न जानना यदि गलत है तो जानबूझ कर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह चिपटे रहना, यह भी गलत है।' और इस कथन के साथ एक कहानी मेरे दिमाग में कौंधती है, अमरकांत की कहानी 'जिंदगी और जोंक'।''[12] अब इसको पुष्ट करने के लिए 1955 से 1960 तक की चार कहानियों का मैं यहाँ जिक्र करना चाहूँगा। कहानियाँ हैं- अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी' 1956 में मुक्तिबोध की 'क्लॉड इथरली' 1959 में रेणु की 'तीसरी कसम, अर्थात् 'मारे गये गुलफाम' 1956 में और निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' 1960।

सबसे पहले अमरकांत की कहानी 'डिप्टी कलक्टरी' से "गौरीनाथ ने सिर हिलाकर उनके कथन का समर्थन किया और कलम ने कहा-पहले का जमाना होता, तो कहा भी नहीं जा सकता, लेकिन अब तो बेईमानी, बेईमानी उतनी नहीं होती होगी। शकलदीप बाबू ने आँखे संकुचित करके हल्की-फुल्की आवाज़ में पूछा – बेईमानी नहीं होती न ! हां अब उतनी नहीं होती। पहले बात दूसरी थी। जमाना अब लद गया - गौरी ने उत्तर दिया।"[113] और दूसरा मुक्तिबोध की कहानी 'क्लॉड इथरली' से "यह है क्लॉड इथरली ! इथरली की ईमानदारी पर अविश्वास करने की किसी को शंका ही नहीं रही ! उसकी जीवन – कथा की फिल्म बनाने का अधिकार खरीदने के लिए एक कम्पनी ने उसे एक लाख रूपये देने का प्रस्ताव रखा। उसने कतई इनकार कर दिया। उसके इस अस्वीकार से सबके सामने यह जाहिर हो गया कि वह झूठा और फ़रेबी नहीं है। वह बन नहीं रहा है।

"कौन नहीं जनता कि क्लॉड इथरली अणुयुद्ध का विरोध करनेवाली आत्मा की आवाज़ का दूसरा नाम है। हाँ ! इथरली मानसिक रोगी नहीं है। आध्यात्मिक अशांति का, आध्यात्मिक उद्विग्नता का ज्वलंत प्रतीक है। क्या इससे तुम इनकार करते हो ?"[14] तीसरा उद्धरण रेणु की कहानी 'तीसरी कसम, अर्थात् मरे गये गुलफाम' से – "हिरामन को जेल का डर नहीं। लेकिन उसके बैल ? न जाने कितने दिनों तक बिना चारा – पानी सरकारी फाटक में पड़े रहेंगे – भूखे –प्यासे। फिर नीलाम हो जायेंगे। भैया और भौजी को वह मुँह नहीं दिखा सकेगा कभी।... नीलाम की बोली उसके कानों के पास गूँजी गयी – एक-दो-तीन ! दरोगा और मुनीम में बात पट नहीं रही थी शायद। हिरामन की गाड़ी के पास तैनात सिपाही ने अपनी भाषा में दूसरे सिपाही से धीमी आवाज में पुछा, "का हो ? मामला गोल होखी का ? फिर खैनी- तम्बाकू देने के बहाने उस सिपाही के पास चला गया।... ।"[15] और चौथा निर्मल वर्मा से, "तुम्हें मालूम है, किसी समय लतिका बेनागा क्लब जाया करती थी ? गिरीश नेगी से

उसका परिचय वहीं हुआ था। कश्मीर जाने से एक रात पहले उसने मुझे सब कुछ बता दिया था। मैं अब लतिका से उस मुलाकात के बारे में कुछ नहीं कह सका हूँ किन्तु उस रात कौन जानता था कि वह वापस नहीं लौटेगा। और अब ...अब क्या फर्क पड़ता है। लैट द डैड डाई...''[16] इन चारों ही उद्धरणों से अमरकांत और रेणु के यहाँ समाज का अन्तर्विरोध है। जहाँ मुक्तिबोध में ब्रिटिश सम्राज्य का पतन और अमेरिकी साम्राज्य का प्रस्फूटन दीखता है वहीं निर्मल वर्मा के यहाँ यूरोपीय अभिजात्य वर्ग का भारतीय प्रारूप हैं। रेणु, मुक्तिबोध और अमरकांत की कहानियों में एक समानता व्यग्य का है। इनमें अलग–अलग सामाजिक विडम्बनाओं को उकेरने के लिए व्यंग्य का सहारा लिया गया है जबकि निर्मल वर्मा की कहानी में 'लतिका' के मस्तिष्क में ही बहुत कुछ चलता है। इस कहानी की सामाजिक स्थिति भी भिन्न है। यह कहानी जैसे आज़ादी के बाद उत्पन्न अभिजात्य वर्गीय चित्रण को चित्रित करने का प्रयास कथाकार करता हुआ महसूस होता है। आलोचक प्रणय कृष्ण की बात सही प्रतीत होती है। जब वे 'हिंदी आलोचना में 'औपनिवेशिक' का रेखांकन' को स्पष्ट करते हुए तीन प्रतिरूपों की चर्चा करते हैं तीसरे प्रतिरूप में लिखते हैं - "औपनिवेशिक' की पहचान और रेखांकन का तीसरा प्रतिरूप ख़ास तौर पर निर्मल वर्मा के साहित्य चिंतन में उभरता है जहाँ पश्चिमी ज्ञानोदय के मूल्यों पर गंभीर प्रश्न उठाए गए हैं और उसकी दार्शनिक अधिमान्यताओं को भी प्रश्नांकित किया गया है।"[16]

संदर्भ सूची

1. सुरेन्द्र चौधरी, हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, उदयशंकर (सम्पादक), अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ.28
2. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : पृष्ठ .39
3. नामवर सिंह (2012), कहानी: नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद : पृष्ठ.73
4. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : पृष्ठ.44
5. नामवर सिंह (2012), कहानी: नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद : पृष्ठ.75
6. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, पृष्ठ .123
7. वही, पृष्ठ.125
8. नामवर सिंह (2012), कहानी: नयी कहानी, पृष्ठ.108
9. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, पृष्ठ.46
10. नामवर सिंह (2012), कहानी: नयी कहानी, पृष्ठ.34
11. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, पृष्ठ .71
12. सुरेन्द्र चौधरी, हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सम्पादक-उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ 26,
13. अमरकांत, डिप्टी कलक्टरी, (प्र.सं.2008), संकलित कहानियाँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली: पृष्ठ-51

14. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-3, सम्पादक : नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986 : पृष्ठ 160

15. रेणु रचना-संचयन, सम्पादक : भारत यायावर, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली : पृष्ठ 173

16. निर्मल वर्मा, 'परिन्दे', राजेन्द्र यादव, एक दुनिया : सामानांतर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली : पृष्ठ 170

17. प्रणय कृष्ण, उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिंदी साहित्य, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2008, पृष्ठ-126

अध्याय चार

सुरेन्द्र चौधरी की कथा-आलोचना के मान-दंड

सन् साठ के दशक में हिंदी कथा-आलोचना में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप करने वाले आलोचक सुरेन्द्र चौधरी से हमारा पहला परिचय उनकी पहली पुस्तक 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' के माध्यम से होता है। चौधरी जी की यह पुस्तक कथा-आलोचना से सम्बंधित है। इस पुस्तक में कथाओं की आलोचना का मुख्य आधार सैद्धांतिक व्यवहारिक और पाठ-प्रक्रिया पर आधारित है। चौधरी जी ने अपने एक लेख में लिखा है – "साहित्य और विशेषत: आधुनिक साहित्य की मेरी समझ वस्तुतः मानव-मुक्ति और राष्ट्रीय-मुक्ति की उस पृष्ठभूमि में बनी जिसमें एक नई संस्कृति का जन्म हुआ था। उसमें संघर्ष की अन्तर्ध्वनियाँ मेरे युवा मन ने सुनी थीं और मेरी चेतना ने उसे अपना आदर्श बनाया था।"[1] यह अंश चौधरी जी द्वारा लिखित लेख 'मेरे आलोचक का जन्म '(1992 -93) से उद्धृत है। इस अंश में 'जिसमें एक नई संस्कृति का जन्म हुआ था', में उनका आधुनिक साहित्य से अभीष्ट 20वीं सदी के साहित्य से है जिसमें उपनिवेशवाद के विरोध का स्वर मुखर हुआ जिसकी तरफ सुरेन्द्र चौधरी इशारा करते हैं। एक तरह से रेणु के संदर्भ में चौधरी जी द्वारा लिखित कथन 'विचारधारा भावधारा से निर्मित' हुई थी घूम-फिरकर बात वहीं पहुँच जाती हैं जिसकी पुष्टि 'मार्क्सवाद और समकालीन बुर्जुआ 'विचारधाराएँ' पर क्रमशः दो और अन्य आलेखों से होती हैं।

अक्सर सुरेन्द्र चौधरी पर जब भी चर्चाएँ होती हैं तब उनको कथा आलोचक के रूप में परिगणित कर संतोष कर लिया जाता है परन्तु उनके साहित्य, विचारधारा और समाज से सम्बंधित आलोचनात्मक योगदान को सर्वथा अनदेखा कर दिया जाता है। इसके अनेक कारणों में से एक कारण उनका दिल्ली या इलाहाबाद जैसे साहित्य के राजनीतिक केन्द्रों से दूरी का होना है। दूसरा प्रमुख कारण उनके लेखन का बिखराव है। 2009 में युवा आलोचक उदयशंकर द्वारा किया गया उनके विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे लेखों का तीन खंडों में संकलन क्रमशः – 'इतिहास संयोग और सार्थकता', 'हिंदी कहानी रचना और परिस्थिति' और 'साधारण की प्रतिज्ञा : अंधेरे से साक्षात्कार'; से पहले पाठक वर्ग उनकी एक मात्र पुस्तक 1963 में लिखित 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' से परिचित था। जैसा कि आलोचक प्रणय कृष्ण लिखते भी हैं – "इन संकलनों के जरिए सुरेन्द्र चौधरी के आलोचक व्यक्तित्व की वृहत्तर पहचान से हमारा साबका पड़ता है। इन संकलनों से पता चलता है कि सुरेन्द्र चौधरी न केवल कहानी के पूर्णतम आलोचक थे (जिस रूप में उनकी ख्याति सर्वमान्य है) बल्कि गहरी अंतर्दृष्टि से सम्पन्न, प्रखर, मार्क्सवादी आलोचक थे जिन्होंने हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया।"[2]

सुरेन्द्र चौधरी अपनी गहरी 'इतिहास सम्पन्न आलोचनात्मक दृष्टिकोण' के लिए प्रख्यात थे। जैसा कि वें लिखते है – "इतिहास, साहित्य और संस्कृति के प्रश्न हमारे वर्तमान के लिए सबसे प्रासंगिक है। एक स्वतंत्र राष्ट्र का इतिहास और संस्कृति से संबंध स्थापित करने में साहित्य की क्या भूमिका हो सकती है ? भारत के भावी इतिहास, संस्कृति में वर्ग, राज्य और जन में किसकी प्रमुख भूमिका होगी ? क्या हम इस भूमिका को निर्धारित करने में साहित्य का कोई भविष्य देख रहे हैं ? यह ठीक है कि साहित्य परिवर्तन का औजार नहीं है, पर वह एक निर्भर रहने योग्य माध्यम है। साहित्य क्रान्तिकारी भूमिका इसी अर्थ में ग्रहण की

जाती है ।"[3] इसी आधार पर उन्होंने आगे 'क्रांति और संयुक्त मोर्चा' और 'वामपंथ और साहित्य में संयुक्त मोर्चा' जैसे अन्य लेख और वामपंथी संगठनों में हुए विभाजन के बाद संयुक्त होने का प्रयास किया। चौधरी जी ने अपनी कथा आलोचना कर्म में भी कथाओं की आलोचना समाज से जुड़ाव के आधार पर की है।

कथा-संरचना

जैसा कि इस शोध-विषय के प्रथम अध्याय में ही इंगित किया गया है कि हिंदी कहानी की शुरुआत 19 वीं सदी में हुई फिर यह प्रश्न उठता है कि कहानी परम्परा का उत्स क्या होना चाहिए भारतीय या यूरोपीय। यह एक विवादित विषय है जिस पर विचार करना यहाँ मेरा लक्ष्य नहीं है। अगर हिंदी कहानी की शुरूआत हम 19 वीं सदी और उसकी परम्परा भारतीय मानते हैं तो दोनो ही बात दो छोर की हो जाएगी और यही पर बात आकर 'कथा संरचना' से आकर जुड़ जाएगी क्योंकि अगर हम हिंदी कहानी को भारतीय परम्परा से शुरू मानते हैं तो ऐसा कौन सा कारण है कि जो दादी नानी की कहानियाँ या अन्य तरीकों की जो मौखिक परम्परा भारत में विद्यमान थी। उससे हिंदी कहानी की शुरूआत नहीं मानी जाती है या हम हिंदी को यूरोपीय विधा मान भी लेते हैं तो उसके पीछे के प्रमुख कारकों में से एक कारक कथा संरचना होगा । इसके बारे में सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं, "उपन्यासों, कथाओं, और आख्यायिकाओं की तुलना में कहानी की स्थापत्य-सम्बन्धी कुछ आतंरिक विशेषताएँ होती हैं...। आख्यायिकाओं से हिंदी कहानियों का बहुत सीधा संबंध रहा है, इसलिए यदि हम आख्यायिकाओं के स्थापत्य से ही चर्चा प्रारम्भ करें तो उचित होगा। आख्यायिकाएँ जैसी विद्वानों की धारणा है, वृत्त प्रधान होती थी और इनमें वृत्त के विकास का एक रैखिक क्रम होता था। घटना का प्रवाह इनमें प्रारम्भ से अंत तक एक ही दिशा की ओर होता था और इसमें किसी प्रकार के व्यतिक्रम की गुंजाइश नहीं रहती थी। हिंदी की प्रारम्भिक कहानियों पर इस 'निर्माण' की छाया बहुत स्पष्ट है।"[4] चौधरी जी यहाँ हिंदी कहानी के शुरूआती कथा संरचना या कथा निर्माण पर बात करते हैं। सुरेन्द्र चौधरी के इस कथन में एक जगह 'घटना का प्रवाह इनमें ...एक ही दिशा की ओर होता था' आया है इसीलिए हिंदी कहानी की

वास्तविक शुरूआती कहानी किसे माना जाए जैसी भ्रामक स्थिति उत्पन्न हुई क्योंकि विषय-वस्तु के तौर पर ये कहानियाँ तो एक सन्देश दे रही हैं। इसमें चौधरी जी आगे दिखाते हैं कि 'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और प्रेमचंद की प्रारम्भिक कहानियों पर भी यह प्रभाव है।

मुक्तिबोध ने अपने एक प्रसिद्ध निबंध 'कला रचना–प्रक्रिया' पर बात करते हुए एकदम शुरूआत में ही लिखा है कि, "रचना प्रक्रिया के दो पक्ष हैं – एक कलाकार की अंतर्दृष्टि कि जिसके सम्मुख कला- तत्व उद्घाटित हो उठा है, दूसरे वह कला-भाव कि जो कलाकार के मनोजगत में मूर्तिमान रूप में प्रस्तुत है। कलाकार की अंतर्दृष्टि उस मूर्तिमान कला-तत्व पर टिकती है और उसके एक-एक अंग का आकलन करती है। यह अंतर्दृष्टि चींटी की भांति है। जिस प्रकार चींटी लघुकाय तीव्रगामी और सूक्ष्म होती है उसी प्रकार कलाकार की अंतर्दृष्टि भी सूक्ष्म होती है तथा गहनातिगहन विवरणों में प्रवेश करने की क्षमता रहती है।"[5] इस प्रकार मुक्तिबोध कला रचना प्रक्रिया या संरचना को 'कलाकार की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि' से जोड़ते हैं। अगर हम मुक्तिबोध की इसी बात को कहानी रचना प्रक्रिया या कथा संरचना पर लागू करते हुए प्रेमचंद की कहानियों पर नजर दौडाएं तो इसी गहन अंतर्दृष्टि से उन्होंने किसानों और मजदूरों या सामजिक यथास्थिति का चित्रण किया है जिसको कि रामविलास शर्मा कहते हैं 'प्रेमचंद कथा के आनंद को अधुरा नहीं छोड़ते हैं।' और सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं – "प्रेमचंद के कथा साहित्य को ही लीजिये। निर्माण की दृष्टि से चाहे प्रेमचंद को कहानियों की तरह मोपासाँ, चेखव या ओ हेनरी की कहानियों की तरह सफल भी हो किन्तु उनमें अपनी रूपरेखा को बलात् आम्रेडित (ट्विस्ट) करने का चमत्कार तो नहीं ही हैं। उनमें कथाओं और आख्यायिकाओं की सहज प्रवहमानता है। उनकी कहानियों में कथानक के स्वरूप का भयावह अंगरक्षय (for midable erosion) तो नहीं ही होता ! पता नहीं, आज के कहानीकार 'गढ़न' से क्या अर्थ लेते हैं। आज विधा, रूप, संघटन, परिप्रेक्ष्य इत्यादि शब्दों के कुहरे में

कथानक का वास्तविक अर्थ दब गया है।"[6] यहाँ सुरेन्द्र चौधरी 'कथानक' पर जोर दे रहे हैं। कहानी के प्रमुख तत्वों में कथानक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी कथानक के आधार पर रचनाकार की अंतर्दृष्टि को पकड़ा जा सकता है।

मुक्तिबोध के उस आलेख में रचना प्रक्रिया के दो पक्षों में दूसरा पक्ष 'वह कला-भाव की जो कलाकार के मनोजगत में मूर्तिमान रूप में प्रस्तुत है। 'कलाकार या कहानीकार का भाव उसके विषय- वस्तु से ही सर्वाधिक पकड़ में आता है जिसे कहानी के सन्दर्भ में सुरेन्द्र चौधरी बल देते हैं- "कथा-शक्ति के आभाव में आज का कहानीकार उस समश्रेन्यता से कथानक की निवंधना नहीं कर पाता जिस समश्रेन्यता और सरलता से प्रेमचंद कर लेते थे या यशपाल जी कर लेते हैं। फलत: उसे कथानक में नाटकीय परिवर्तन करने पड़ते हैं, अनेक कृत्रिम बिन्दुओं की अवतरण करनी पडती है और इन सबसे भी जहाँ काम चलता नहीं दिख पड़ता, वहाँ आनुषंगिक कथानक गढ़ना पड़ता है। इतनी बुनावटों के बाद कहानी मुकम्मल होती है। गोया कहानी न हुई पहेली हो गयी, जितना उलझो उतनी तीखी।"[7] इस तरह की कहानियों की भरमार हिंदी कहानी में दिख जाएगी।

चौधरी जी ने उसी लेख में आगे लिखा है – "कहानी की रचना-प्रक्रिया को लेकर जो दूसरा सवाल पैदा होता है वह चरित्रों की स्थापना का। कहानी में घटनाएँ किसी चरित्र के व्यापार के केंद्र में उसके समस्त लोकानुभव के केंद्र में खुलती हैं इस अर्थ में आज की कहानी सिर्फ घटना-वैचित्र्य को लेकर नहीं चलती। जीवन का सत्य चरित्र के आसंग में सार्थकता ग्रहण करता है।"[8] कथा को जीवन्तता प्रदान करने वाला सर्वाधिक प्रभावकारक तत्व कथा का चरित्र स्थापना होता है। चरित्र स्थापना ही पाठक के मानस पर गहरी क्षाप छोड़ता है। जिससे पाठक अपने आप को आत्मसात करता है। अगर प्रेमचंद की 'कफन' कहानी में 'घीसू और माधव' या अमरकांत की कहानी 'जिंदगी और जोंक' में 'रजुआ' न होता और चरित्रों का

निर्माण नाम के अनुरूप न होता तो कहानी उतनी प्रभावी मालूम नहीं पड़ती। जिसके बारे में मुक्तिबोध ने भी अपने एक (मेरी माँ ने मुझे प्रेमचंद का भक्त बनाया) समीक्षात्मक आलेख में लिखा है- "प्रेमचंद की जरूरत आज पहले से भी ज्यादा बढ़ी हुई हैं। प्रेमचंद के पात्र आज भी हमारे समाज में जीवित हैं किन्तु वे अब भिन्न स्थिति में रह रहे हैं। किसी के चरित्र का कदाचित् अध:पतन हो गया है, किसी का शायद पुनर्जन्म हो गया है। बहुतेरे पात्र सम्भवतः नये ढंग से सोचने लगे हैं। यह भावना साधार है कि ये सब पात्र अपने सृजनकर्ता लेखक की खोज में भटक रहे हैं। उन्हें अवश्य ऐसा कोई-न-कोई लेखक शीघ्र ही प्राप्त होगा।"[9] हिंदी कहानी के प्रत्येक कालखंड की रचना प्रक्रिया एक जैसी नहीं रही है। "प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य की रचना-प्रक्रिया में विषय-वस्तु से कथानक का आन्तरिक समावय इतना एकसूत्र होता है कि उसमें कहानी की सीमाओं के अतिक्रमण की गुंजाइश ही नहीं रह जाती। अनजाने भी कहानीकार इस सीमा में बँधकर रचना-विधान करता है। इसका बहुत स्पष्ट कारण यह है कि जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय जैसे कहानीकार विषय की सम्भावना पर अनावश्यक बल नहीं देते। वे कथा के स्वाभाविक स्थैर्य के बावजूद अंत:सरित प्रवाहों के सूत्र को बराबर पकड़ने की चेष्टा करते हैं। यशपाल की कहानियों पर यदि हम दृष्टि डालें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। यशपाल जी की अधिकांश कहानियों में जो कथा का स्वभाविक स्थैर्य (clam)है वह किसी जड़ता का परिणाम नहीं है। यशपाल इसी स्थैर्य के अंतर्प्रवाह के स्तरों की उद्भावना के द्वारा कहानी की रचना करने में सफल होते हैं।"[10] सुरेन्द्र चौधरी के इस बात से एक बात जो समझ में आती है, वह यह है कि कालखंड में परिवर्तन होने के साथ-साथ समाज की सामाजिक यथार्थ में भी परिवर्तन हुआ और रचनाकार के जीवन-मूल्य और रचना-मूल्य में भी बदलाव आया होगा जिसको चौधरी जी 'रचनाधर्मी' और 'रचनाव्यापारी' लेखक को स्पष्ट करते हुए प्रेमचंद(रचनाधर्मी) और अज्ञेय (रचनाव्यापारी) का उदाहरण देते हैं।

नई कहानी के संदर्भ में सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं- "कथाकार की रचनात्मक प्रक्रिया तब तक कोई अर्थ नहीं रखती, जब तक हम उसके उद्देश्य की सार्थकता को प्रमाणित करने के लिए कथाकृतियों से हमें पात्र, परिस्थिति और मूल्य के उन प्रकारों को ध्यान में रखना होगा जिन्हें इंगित कर हम कह सकें कि ये हमारे युग के सत्य है और इनकी अभिव्यक्ति के द्वारा कथाकार विकास-क्रम में अपना योग दे रहा है। सर्वप्रथम नई कहानी के रचनात्मक संन्दर्भ में हमें पात्रत्व या चरित्र के निर्माण की समस्या पर ध्यान देना होगा। चरित्र की सृष्टि कथाकार के रचनात्मक उपायों का केंद्र है।"[11] नई कहानी के दौर के लेखक रचना प्रक्रिया के स्तर पर प्रेमचंदीय परम्परा से अपने आपको जोड़ते हैं। नई कहानी का दौर स्वतन्त्रता के बाद का दौर है। इस दौर के कहानीकारों ने अपनी कहानियों का विषय-वस्तु का निर्माण तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप किया जिसमें देशकाल से लेकर पात्र और उस युग के मूल्यों को ध्यान में रखकर कहानियों का स्थापत्य निर्मित किया गया परन्तु प्रत्येक कहानीकार की रचना-प्रक्रिया एक जैसी नहीं थी। जैसे रेणु, अमरकांत, शेखर जोशी, निर्मल वर्मा की कहानियों की रचना स्थापत्य भिन्न-भिन्न है, जिसको सुरेन्द्र चौधरी ने प्रेमचंद के संदर्भ में ही स्पष्ट कर दिया है, "कहानी की रचना-प्रक्रिया के संबंध में किसी भी दो कहानीकार को एकमत होना संभव नहीं है, क्योंकि रचनात्मक साहित्य का कोई प्रक्रियात्मक फार्मूला नहीं होता। फिर भी, रचना की प्रक्रिया में एक सर्वसामान्य विधि का विकास तो स्वयं हो ही जाता है।"[12]

हिंदी कथा-संरचना या प्रक्रिया पर अपने समकालीनों में सुरेन्द्र चौधरी प्रथम ऐसे आलोचक थे जिन्होंने कथा-प्रक्रिया और पाठ पर अलग-अलग व्यवस्थित ढंग से विचार किया। हिंदी कथा आलोचना में प्रायः पाठ और प्रक्रिया को एक साथ जोड़कर व्याख्यायित किया गया है। जैसे नामवर सिंह के इस वक्तव्य से इसका सहज ही भान हो जायेगा – "कहानी पढ़ने की भी एक प्रक्रिया है, जैसे कहानी लिखने की। अपने यहाँ दोनों पर ध्यान कम दिया गया है।

रचना-प्रक्रिया पर कवियों ने जरूर लिखा है और उनकी देखादेखी दो-एक कहानीकारों ने भी कहानी की रचना-प्रक्रिया को अंकित करने का प्रयत्न किया है। बेहतर है,अपनी समस्या का समाधान स्वयं कहानीकार ही करें। हमारा सम्बन्ध कहानी पढ़ने से है और किसी चीज को समझने, समझ कर आयात करने का अचूक तरीका है उसकी प्रक्रिया को समझना।"[13] आगे फिर नामवर जी कथानक के बारे में लिखतें हैं- "जिसे 'कथानक' कहा जाता है, वह दरअसल पाठक के दिमाग की उपज है।"[14] जिन तत्वों से कथाकार का दृष्टिबिन्दु का पता लगाने में आसानी होती है। उसको उनके समकालीन कथा आलोचकों ने हल्के ढंग से लिया।

कथा के पाठ

हिंदी कथा आलोचना में कथाओं की पाठ के स्तर पर अनेक आलोचकों की कथा आलोचना से सम्बन्धित पुस्तकों में सायास या अनायास प्रयास दिख जाएगा। हिंदी कथा आलोचना में व्यवस्थित पाठ केन्द्रित आलोचना को सर्वप्रथम महत्त्व सुरेन्द्र चौधरी ने दिया। सुरेद्र चौधरी कथा के पाठ के संदर्भ में अपनी पुस्तक 'हिंदी कहानी प्रक्रिया और पाठ' में लिखा है कि, "इधर एक अर्से से हिंदी पत्रों में कहानी की पाठ-प्रक्रिया को लेकर प्रश्न उठाये जा रहे हैं। पाठ-प्रक्रिया का संबंध मूलभूत रूप से इस प्रश्न से है कि कहानी को सूक्ष्म और सक्रिय रूप से पढ़ा जाए। प्रश्न जरा टेढ़ा है और स्पष्टता की माँग करता है। क्या कारण है कि आज की कहानियों के साथ ही यह प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण रूप से उभरा है, क्या आज के पहले की कहानियों में ऐसा कुछ नहीं है जो सूक्ष्मता और सक्रियता की माँग करता हो ? प्रश्न नया हो सकता है लेकिन इस प्रश्न में अंतर्हित सत्य नया नहीं है। हाँ, यह जरूर है कि पहले की कहानियों की तुलना में आज की कहानियाँ ज्यादा अंतर्मुख हैं, ज्यादा जटिल हैं।"[15] सुरेन्द्र चौधरी का यहाँ इशारा नई कहानी आन्दोलन के दौर के कथा आलोचना की तरफ है। नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'कहानी : नई कहानी में' पाठ- प्रक्रिया पर बात की हैं। उसके बाद कहानीकार मार्कंडेय ने अपनी कथा आलोचना से सम्बन्धित पुस्तक 'कहानी की बात' में कथाओं की समीक्षा करते हुए कथा के पाठ के सन्दर्भ में संकेत किया है। इससे पहले नामवर जी कथा के पाठ या कहानी पाठ को कथा आलोचना से जोड़तें हैं और साहित्य का मर्म और स्तर के साथ-साथ कथाओं के पाठ के बारे में साधारण पाठक वर्ग का जिक्र करते हुए लिखते हैं - "कहानी लोकप्रिय साहित्य है; साहित्यिक माध्यम के रूप में यह प्रकृति से ही जनतांत्रिक है। इसलिए इसके रसास्वादन के ढंग का भी जनतांत्रिक होना स्वाभाविक हैं। रसास्वादन के

जनतांत्रिक ढंग का अर्थ है बहुत कुछ अनुभवपरक ग्रहण। जनसाधारण बहुत सी बातों को अनुभव के सहज बोध से ही समझने और ग्रहण करने की कोशिश करते हैं। यह सहज-दृष्टि कभी-कभी बेहद अचूक साबित होती है।"[16] नामवर जी कहानी की लोकप्रियता की बात कर रहे हैं। यह सच है कहानी आज एक लोकप्रिय विधा है। जो पाठक के मन पर सीधा-सीधा प्रभाव छोड़ती है जिसके पाठ को जनतांत्रिक होने की बात की गई हैं। नामवर जी फिर इसको कहानी रचना प्रक्रिया से जोड़ते हुए यह दिखातें हैं कि इसका पाठ प्रक्रिया से कैसा संबंध है। जैसा कि नामवर जी ने लिखा 'रसास्वादन के जनतांत्रिक ढंग का अर्थ है बहुत कुछ अनुभवपरक ग्रहण।' कहानी या रचना में जिस समाज का वर्णन होता है दूसरा समाज उसी वर्णन के आधार पर एक दूसरे को समझता है।

सुरेन्द्र चौधरी ने पाठ-प्रक्रिया को समझाते हुए लिखा है – "कहानी का मर्म या अर्थ कहानी में कहाँ होता है और पाठक उसे कैसे प्राप्त कर सकता है। इस समस्या को सुलझाने के लिए पाठ-प्रक्रिया जैसी दुरूह शब्दावली का प्रयोग करना पड़ा है। कहानी का अर्थ शुद्ध कथात्मक स्तर पर भी हो सकता है या दूसरे स्तरों पर भी हो सकता है या दूसरे समानांतर स्तरों पर भी। हाँ, आज की कहानियों में सामान्यत: वह कथात्मक स्तर पर नहीं होकर अन्यत्र ही होता है।"[17] कहानी का मर्म से उनका मंतव्य कथाकार के अभीष्ट से भी है। लेकिन ऐसा नहीं लगता है कि प्रत्येक रचनाकार या कथाकार के सन्दर्भ में यह बात लागू होनी चाहिए। अगर हम साहित्य की अनेक परिभाषाओं में से एक ही परिभाषा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की (जनता का संचित प्रतिबिम्ब) पारिभाषा पर नजर दौडायें तो यह बात पुष्ट हो जाएगी। जिसे आज जनता नहीं कहा जाता है, या जिन्हें अभी जनता बनना है

उनके मर्म का चित्रण कहाँ है और किन रचनाकारों ने किया है? उस जनता को बताने की जरूरत नहीं है वह समय आने पर जान जाएँगे। प्रत्येक काल खंड में ऐसे रचनाकार रहे हैं,

जैसे – चंद्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद, यशपाल, रेणु और अमरकांत की कहानियों के सन्दर्भ में यह बात लागू नहीं होती है क्योंकि इनके बहुत सी कहानियों को पढ़कर पाठक सहज ही अनुमान लगा लेगा कि कहानी का मर्म कहाँ है। जिसकी तरफ चौधरी जी ने भी इशारा किया है। जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण में संकेत किया गया है 'आज की कहानियों में सामान्यत: वह (कहानियों का मर्म) कथात्मक स्तर पर नहीं होकर अन्यत्र ही होता है।' यह सच है कि जिन कहानीकारों को ऊपर रेखांकित किया गया है। हिंदी कथा साहित्य में उसके विपरीत धारा के कथाकारों की कमी नहीं है जिसकी तरफ पहले भी चौधरी जी 'रचनाव्यापारी रचनाकार' कह कर इशारा किया है।

सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है – "हाँ, अधिकतर लोगों के लिए पाठ और विशेषत: कथा साहित्य का पाठ, एक 'सोपोरिफिक' क्रिया ही है। अधिकांश कथा-पाठकों का समुदाय समय काटने, मनोरंजन करने और नींद लाने के लिए कहानियाँ पढ़ता है, उसे जरूर आप लेखक के दृष्टिकोण के प्रति समर्पित की कोटि में रख सकते हैं।"[18] चौधरी जी ने अपनी इसी पुस्तक के पहले अध्याय 'कथा : रचना या मनोरंजन' नामक अध्याय में इस तरह की बात प्रेमचंद की कहानी 'घासवाली', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी 'ज्वार और भाटा' और अज्ञेय की कहानी 'शरणदाता' को उद्धृत करते हुए 'रचनाधर्मी' लेखक और 'रचनाव्यापारी' लेखक की बात की है ।यह सच है कि साहित्यिक रचनाओं का पाठ लोगों के लिए आलस्यपूर्ण होता जा रहा है। इसके लिए अकेले पाठक वर्ग ही जिम्मेदार नहीं है बल्कि उसके साथ-साथ रचनाकार भी जिम्मेदार हैं। चौधरी जी आगे आज की कहानियों के अनेक स्तरों की बात करते हुए उसको अर्थ निष्पति से जोड़ते हैं। वह मानते है कि मनोरंजन के लिए कहानियों को पढ़ना निरर्थक क्रिया नहीं है बल्कि पाठक उसको मनोरंजन के लिए पढ़ते वक्त भी आलोचनात्मक रूख अख्तियार कर लेता है। आगे उन्होंने कहानी को स्तरीय पाठ से जोड़ा हैं। कहानी के अनेक

पाठ के संदर्भ में वें लिखतें हैं – "कथा-साहित्य का सामान्य पाठक कथात्मक स्तर पर ही अपने को स्वाभाविक रूप से टिका लेता है।... कहानी का दूसरा स्तर भावात्मक होता है। विश्व-साहित्य में कहानियों के बहुत सारे उदाहरण हैं जिनका मर्म केवल कथानक के स्तर पर नहीं खुलता, उसके लिए पाठक को दूसरे स्तरों की तलाश करनी पड़ती है। स्वतंत्र दृष्टिवाला अन्वेषी पाठक उसे ढूँढ लेता है, जबकि सामान्य पाठक उस कहानी को 'अपठनीय' या रहस्यमय मानकर ही संतोष कर लेता है। अज्ञेय, जैनेन्द्र, निर्मल वर्मा, मोहन राकेश और कई दूसरे कहानीकारों की ओर से सामान्य पाठक की प्रतिक्रियाएँ ऐसी ही होती हैं। पाठकों की बात जाने दीजिए, ऐसी कहानियों को सामान्यत: अध्येता भी प्रतीकात्मक कहानियाँ कहकर किनारा काट लेता है।"[19] यहाँ कथात्मक स्तर से संबंध कथा के विषय-वस्तु और भाव के स्तर पर आत्मसात करने से है। साधारण पाठक अक्सर कथा में वर्णित विषय वस्तु और भाव के आधार पर ही कथाओं को समझने की कोशिश करता है क्योंकि उसके पास कथा को समझने के लिए कोई अन्य साधन नहीं होता है। इसको इस तरह से भी समझा जा सकता है कि जिसे हम कथा आलोचना कहते हैं, वह कथा आलोचना मुख्यतः बौद्धिकों की बीच की बहस कभी-कभी मालूम पड़ती है। आज जिन थोड़ी सी कथाओं से जनता परिचित है उसकी आलोचना से भी वही जनता परिचित हो ऐसा नहीं लगता है। कथा के सभी आलोचकों के ऊपर यह बात लागू होती है। कथा के दो स्तरों 'कथात्मक' और 'भावात्मक' में साधारण पाठक कथाकार के भाव से ही तादात्म्य स्थापित करने की कोशिश करता है। उसके बाद कथा के कथात्मक स्तर पर पहुँचता है। जैसे सुरेन्द्र चौधरी ने कुछ कथाओं का पाठ किया उसमे से प्रेमचंद की कहानी 'कफन' का पाठ करते हुए अंत में लिखा है - "वस्तुतः कथा के स्तर पर इस कहानी का मर्म नहीं खुलता, वह खुलता है भावना के स्तर पर और उससे भी गहराई में सम्पूर्ण संस्कृति के स्तर पर। जीवन की इस विरूपता को सामने रखकर वस्तुतः लेखक उस सांमजस्य को पाने की चेष्टा करता है जो हमारे युग की अनिवार्यता है। सम्पूर्ण

सांस्कृतिक स्तर पर आज जो अमानवीयता व्याप्त है उसका प्रतिकार होना ही चाहिए, घीसू-माधव की तरह वर्तमान में जीना कोई निदान नहीं है ।"[20] इस कहानी की शुरूआत ही अमानवीयता पर व्यंग्य के माध्यम से होती है। 'बुधिया' जो अन्दर पछाड़ खा के गिर रही है और झोपड़े के बाहर 'घीसू' और 'माधव' का अलाव के सामने बैठना और फिर संवाद का शुरू होना संवाद जब यहाँ (घीसू) "तू बड़ा बेदर्द है बे ! साल-भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफ़ाई ।"[21] यहाँ पहुंचते ही एकाएक कथा पाठक के मन में प्रभाव उत्पन करती है। यही कहानी को समझने को कुंजी भी मालूम पड़ती है। एक दूसरी बात है कि अनेक आलोचकों ने (मुख्य रूप दलित साहित्य के आलोचकों ने) इस कहानी पर अलग-अलग प्रतिक्रिया दी हैं परन्तु कुछ समय के लिए यह कहानी पाठक को अपने घेरे में तो जरूर लेती है । इसी तरह प्रेमचन्द की अन्य कहानियां जैसे 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआँ' भी एक प्रभाव छोड़ती है। इसी तरह चौधरी जी ने अन्य कहानियों ('शरणदाता', 'नीलम देश की राजकन्या', 'दूसरी नाक', 'गंगा, गंगादत्त और गांगी', 'रत्नप्रभ, कैसेंड्रा का अभिशाप', 'जानवर और जानवर' और 'घंटा') का भी पाठ किया है । इसमें 'दूसरी नाक' और 'घंटा' कहानी भाव के स्तर और कथा के स्तर पर भी सामान्य पाठक पर ज्यादा प्रभाव छोड़ती मालूम पड़ती है।

रूप और अंतर्वस्तु

रूप और अंतर्वस्तु पर विचार करने से पूर्व निम्न कथनों पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है –

“मनुष्य सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में विशेष संबंध कायम करता है जो अनिवार्य होते हैं और उसकी इच्छा से स्वतंत्र भी । ये उत्पादन संबंध भौतिक उत्पादन शक्तियों के विकास की अवस्था से भी संबंधित होता हैं। ये उत्पादन संबंध ही अपनी समग्रता में समाज के आर्थिक ढाँचे को निर्मित करते हैं जिसकी बुनियाद पर क़ानूनी और राजनीतिक अधिरचनाएं खड़ी होती हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति ही सामान्यत: सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं को निर्धारित करती है । मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।”[22]

‘कार्ल मार्क्स’

“साहित्य में अगर कोई चीज सचमुच सामाजिक होती है तो वह है उसका रूप (फॉर्म) ।... कला में विचारधारा का सही वाहक ‘रूप’ होता है, न कि अमूर्त ‘अंतर्वस्तु’ । साहित्य पर इतिहास की छाप साहित्यिक रूप में ही पड़ती है, न कि किसी अन्य उच्च कोटि के सामाजिक दस्तावेज़ के रूप में।”[23]

‘जॉर्ज लुकाच’

"मार्क्सवादी आलोचना केवल साहित्य का समाजशास्त्र नहीं है जिसका काम यह पता लगाना हो कि उपन्यास कैसे प्रकाशित कराए जाते हैं और उनमें सर्वहारा का उल्लेख है या नहीं। मार्क्सवादी आलोचना का लक्ष्य साहित्य की अधिक व्यापक व्याख्या करना है, जिसका मतलब है कृति के फॉर्म, स्टाइल और अर्थ की ज्यादा संवेदनशीलता के साथ व्याख्या करना। इसका मकसद यह देखना भी है कि वे फॉर्म, स्टाइल और अर्थ किस खास ऐतिहासिक दौर की उपज हैं।"[24]

'टेरी ईगलटन'

उपर्युक्त तीनों ही कथन क्रमशः- कार्ल मार्क्स, जॉर्ज लुकाच और टेरी ईगलटन का कला या साहित्य के 'रूप और अंतर्वस्तु' से सम्बंधित है। पहली बात तो यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि 'रूप और अंतर्वस्तु' सम्बन्धी अवधारणा मार्क्सवादी आलोचना पद्धति का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसे सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स ने 'आधार और अधिरचना'(बेस एंड सुपरस्ट्रक्चर) के रूप में व्याख्यायित किया है। इसका 'चरम रूप' बर्तोल्त ब्रेख्त और जॉर्ज लुकाच के साहित्य सबंधी बहसों और विवादों से पैदा हुआ।

जहाँ मार्क्स ने कला और साहित्य को मानव जीवन के सामाजिक सम्बन्ध और भौतिक जीवन के जुड़ाव के आधार पर व्याख्यायित किया है वहीं लुकाच ने साहित्य के रूप (फॉर्म) को अधिक महत्त्व दिया। जबकि साहित्य या कला में मानव जीवन या सामाजिक जीवन प्रक्रिया की जटिलताओं का संयोजन होता है, जिसे संरचना कहा जाता है। किसी भी संरचना का एक बाहरी और एक भीतरी पक्ष होता है। संरचना के बाहरी पक्ष को उसका रूप कहते हैं और भीतरी पक्ष तथा उसके घटक तत्वों व प्रक्रियाओं को उसकी अंतर्वस्तु कहते हैं। इन अर्थों में 'रूप और अंतर्वस्तु' गहरे अर्थों में एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। अगर हम 'लुकाच' के 'रूप' को अधिक महत्त्व देते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि क्या साहित्य या कला का रूप ही

जनता के लिए जरूरी है या उसमें चित्रित तत्व ? इस पर विचार करने के क्रम में अगर 'रूप' को ही अधिक महत्त्व दिया जाये तो 'लेनिन' ने एक ज़माने में कलावादियों (कला कला के लिए) का विरोध करते हुए कहा था –'कला की जड़ें जनता के बीच जितनी गहरी होगी कला उतनी ही उत्कृष्ट होगी ।' लुकाच जिसके साथ खड़े नहीं दीखते हैं । इन्ही सब बातों के आलोक में अब हमें आलोचक सुरेन्द्र चौधरी की कथा से सम्बंधित आलोचना में तलाश करना है कि चौधरी जी 'रूप और अंतर्वस्तु' को किस दृष्टिकोण से देखते हैं।

सुरेन्द्र चौधरी अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' के प्रथम अध्याय (कथा :रचना या मनोरंजन) में ही रचनाकारों के प्रकार की बात की है जिसमे वें दो तरह के रचनाकार के तरफ इशारा करते हैं । एक 'रचनाधर्मी' रचनाकार और दूसरा 'रचनाव्यापारी' रचनाकार । उससे पहले वे कथा के उद्देश्य पर बात करतें हैं कि कथा का उद्देश्य रचना होना चाहिए या मनोरंजन ? लिखते हैं, "हम सामान्यत: ऐसा मान लेते हैं कि मनोरंजन करनेवाला कथाकार किसी 'गहरे सत्य' को धारण नहीं कर सकता और गम्भीर साहित्यकार (चाहे वह कथाकार ही क्यों न हो !) मनोरंजन नहीं कर सकता।... मैं रचनात्मक और मनोरंजक साहित्य के बीच प्रतिभा का भेद कृत्रिम मानता हूँ। चूँकी कोई रचना जन-समुदाय के बीच प्रचलन पाती है इसीलिए वह रचनात्मक नहीं है ऐसी धारणा 'मिडिल ब्रो' हो सकती है, यथार्थ नहीं ।"[25] हिंदी कहानी बहुत सारे मायनों में सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने वाली एक सशक्त विधा के रूप में मानी जाती है । जिसको कि गुलेरी से लेकर उदय प्रकाश तक देखा जा सकता है । जैसा चौधरी जी ने 'गहरे सत्य को धारण' करने की बात रचनाकारों के सन्दर्भ में की है, तो वह सस्ती सामाजिक मूल्यों से जुड़ा हुआ ही सत्य होना चाहिए। इसी अध्याय में चौधरी जी लिखते हैं, "रचनाधर्म क्या है और उसे हम किन अर्थों में व्यापार धर्म से अलग कर सकते हैं। इस संबंध में सबसे पहली बात जीवन-सत्य के धायन की

है।... रचनाधर्मी कथाकार जीवन के गतिमान सत्य से अपने को जोड़ता हुआ नये सत्यों का निर्माण भी करता है।... कथा-साहित्य के बीच आज रचना और व्यापार का भेद बहुत स्पष्ट हो गया है। व्यापारी लेखक सिर्फ सत्य के प्रेक्षण की दृष्टि से ही कमजोर नहीं होता क्योंकि वह वस्तु-सत्य के प्रेक्षण का ग्रहण ही नहीं कर पाता बल्कि वह व्यक्तित्वहीन और रूचिहीन भी होता है।"[26] इस पर विचार करने से पहले एक बात जान लेना चाहिए कि आलोचक सुरेन्द्र चौधरी अपने आलोचना कर्म में सामाजिक ऐतिहासिक जीवन-प्रक्रिया को महत्त्व देते हैं। इसी कारण वे कथा आलोचना रचनाकारों की दो कोटियों की बात करते हैं। रचनाधर्मी कथाकार के रूप में प्रेमचंद को उद्धृत करते हैं। वहीं रचनाव्यापारी कथाकार के रूप में अज्ञेय को उद्धृत करते हैं। चौधरी जी प्रेमचंद की जिस कहानी का जिक्र इस संदर्भ में करते हैं। उस कहानी का नाम है 'घासवाली'। प्रेमचंद की इस कहानी को नारीप्रधान कहानी के रूप में जाना जाता है। इस कहानी के मुख्य पात्र 'मूलिया' और 'चैना सिंह' हैं। इन पात्रों की यथास्थिति के हिसाब से सामाजिक संवेदना को परखें तो शायद 'रचनाधर्मी' रचनाकार का मकसद स्पष्ट समझ में आ जायेगा।

सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है, "भारत के राजनीतिक संक्रमण को यशपाल, भगवती चरण वर्मा, भीष्म साहनी और रेणु ने अपने-अपने नजरिए से, गहरी संलग्नता से देखा-परखा था। नागर जी के कई उपन्यासों में शहरी जीवन की संक्रमणशीलता लक्षित हो रही थी। 'मैला आँचल' और 'परती-परिकथा' में रेणु ने ग्रामीण समाज और जीवन की हलचलों को व्यापक ढंग से चित्रित किया था। उनके राजनीतिक समीकरण बिहार के गाँव में आज भी थोड़े अंतर के साथ मिल जाएँगे। रेणु ने अपनी राजनीतिक पहचान से ज्यादा उस नई आर्थिक-सामाजिक प्रक्रिया को पहचाना था जिसका अन्तर्विरोध वर्तमान इतिहास की धुरी बन जाता है। गाँव में एक साथ शासन का आधुनिक तन्त्र पहुँचता है और सामन्तवाद की वापसी होती है।

गाँवों के आधुनिकीकरण की यह बाधा लगभग स्थायी हो गई है ।"[27] इस पूरे उद्धृत अंश में यशपाल से लेकर रेणु तक की रचनाओं में वर्णित अंतर्वस्तु को दिखाया गया है। इस अध्याय के शुरूआत में मार्क्सवादी आलोचना के सम्बंधित टेरी ईगलटन का एक मत उल्लेखित है जिसमें 'ईगलटन' कहते हैं 'मार्क्सवादी आलोचना केवल साहित्य का समाजशास्त्र नहीं है ।... इसका मकसद यह देखना भी है कि वे फॉर्म, स्टाइल और अर्थ खास ऐतिहासिक दौर की उपज है ।' इसी के आलोक में चौधरी जी के इस बात को परखना होगा । उन्होंने लिखा है 'यशपाल', भगवती चरण वर्मा, भीष्म साहनी, और रेणु की भारत की राजनीतिक संक्रमण में नजरिए का अलगाव' की बात की है। इस नजरिए का ही एक कारण है कि 'तीसरी कसम' और 'मक्रिल' जैसी हिंदी कहानी और उपन्यास 'झूठा सच' और 'मैला आँचल' की भाव भूमि अलग – अलग है। इन कहानियों व उपन्यासों का एक स्टाइल तो है लेकिन विषय-वस्तु के स्तर पर ये रचनाएँ सर्वाधिक महत्त्व की है।

सुरेन्द्र चौधरी की कथा आलोचना में 'रूप और अंतर्वस्तु' को अधिक महत्त्व देने के कारण ही रेणु और अमरकांत जैसे कथाकार हमारे सामने गहरी विषयवस्तु को लेकर उपस्थित होते हैं । इससे पहले रेणु को आँचलिक कथाकार और अमरकांत को मध्यवर्गीय कथाकार के रूप में ही उद्धृत किया जाता रहा है । रेणु के संदर्भ में वे लिखते हैं – "रेणु की आँचलिकता एकदेशीय तत्व नहीं है। वह स्थानीय भी नहीं है। उसमें ग्रामांचलों की समस्त धड़कने कैद हैं। यहीं कारण है कि रेणु आँचलिक होकर भी स्थानीय नहीं रह जाते। प्रेमचन्द से उनकी समीपता का रहस्य इस बात से भी छिपा है। रेणु ने सामाजिक-मानवीय यथार्थ को आँचलिक दिखने वाली कथाओं में अवश्य बांधा है, पर यह बंधन एक प्रकार का वैसा ही अनुशासन है ।"[28] रेणु की रचनाओं की आँचलिकता मात्र आँचलिकता भर नहीं है , बल्कि सामाजिक यथार्थ की विशाल महागाथा है जिनको रेणु की कहानियों की भाषा या शब्द

आयातित लगता है, उनको रेणु की कहानियों में चित्रित 'लोक' पर भी गंभीरता पूर्वक विचार कर लेना चाहिए।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज तथा हिंदी कथा संसार का समाजशास्त्रीय अंतर्संबंध :

पचास का दशक हिंदी साहित्य का सर्वाधिक संक्रमण का दौर था । एक तरफ प्रगतिशील आन्दोलन था जो 1936 में शुरू हुआ था तो वहीं दूसरी तरफ स्वतंत्रता की प्राप्ति थी। इन दोनों ही आन्दोलनों का अन्तहीन सिलसिला जो शुरू हुआ आज 21 वीं सदी में भी अपनी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सका है । ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जिन सामाजिक आर्थिक राजनैतिक विडम्बनाओं के खात्में के लिए यह आन्दोलन शुरू हुआ था उन सारी विडम्बनाओं को आज भी भारतीय समाज में देखा जा सकता है । इसके सन्दर्भ में सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं- "राजनीतिक आज़ादी ने भारत के मानचित्र को बदलने में चाहे जितनी मदद की हो, मगर उसके मानसिक चित्र को बदलने में उसने बहुत थोड़ी मदद की। हाँ कुछ लोगों पर संवैधानिक प्रजातंत्र का चश्मा जरूर चढ़ गया । जीवन के बुनियादी क्षेत्रों पर इस राजनीतिक आज़ादी का असर दुर्भाग्य से, बहुत कम पड़ा रचनाकार पर यह असर बेहद बाहरी साबित हुआ।"[29]

कार्ल मार्क्स ने भारत पर लिखित एक लेख में लिखा है कि, "हिंदुस्तान एक ऐसा देश था जिसमें सिर्फ मुसलमान और हिन्दू ही नहीं लड़ते थे, बल्कि जिसमें एक कबीला दूसरे कबीला से और एक जाति दूसरी जाति से लड़ती थी। उसका समाज ऐसा था जिसका ढाँचा समाज के सभी सदस्यों के एक-दूसरे से विरोध और वैधानिक अलगाव से उत्पन्न एक तरह के संतुलन पर आधारित था । ऐसा देश और उसका ऐसा समाज ।"[30] मार्क्स ने यह बात 1853 में लिखी थी, जो आज भी भारत के संदर्भ में लागू होता है। देश आज़ाद होने के बाद नौकरशाही वर्ग ने तो 'समता ', 'बधुत्व' और 'सम्प्रभुता' की कसमें खाई। लेकिन ये तीनों ही

कसमें श्रीमान वर्ग के लिए थी। यह कसमें उनके लिए नहीं जो कभी आज़ाद न हुए। देश को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाना था। लेकिन धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के बतौर नहीं बल्कि सत्तासीन वर्ग के लिए निरपेक्ष होने के लिए। धर्मनिरपेक्षता के बारे में इरफ़ान हबीब ने अपने एक साक्षत्कार में कहा है कि, "जहाँ तक दुनिया में धर्मनिरपेक्षता का ताल्लुक है वह फ्रांस की क्रांति से निकली थी। जार्ज जैकब होलिओक ने 1851 में धर्मनिरपेक्षता को यह सोच कर परिभाषित किया कि इस जीवन में जो भी काम किए जाए वे इन्सान के सुधार के लिए हों।"[31]

आर्थिक स्तर पर विदेशी पूंजी निवेश के लिए देश के सत्तासीन वर्ग में होड़ मचा हुआ था जिसका प्रतिफलन नब्बे के दशक में दिखा। मुक्तिबोध ने अपने एक छद्मनामी लेख में लिखा है, "चले गये वे दिन जब हम और आप अखबारों से राजनैतिक प्लेटफार्मों से तथा संगठन के द्वारा विदेशी माल के खिलाफ, विदेशी पूंजी के विरूद्ध, स्वदेशी उद्योग और व्यवसाय की हिमायत में कार्य करते थे। वे दिन गए। आज विदेशी पूंजी के आमन्त्रण को राष्ट्रीय आवश्यकता बतलाया जाता है। यह सहज ही भुला दिया जाता है कि पिछड़े हुए मध्य पूर्वी राष्ट्रों में स्वदेशी में लगी हुई विदेशी पूंजी के राष्ट्रीयकरण का सुविस्तृत आन्दोलन चला हुआ है – वह सम्पूर्णत: सफल हुआ है या असफल यह अलग बात है। वह आन्दोलन केवल इसलिए है कि राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से सार्वभौम प्रभुत्वसंपन हो, ताकि स्वदेशी जनता का शोषण विदेशी पूंजी न कर पाए, स्वदेश का पैसा विदेश न पहुचे।"[32] यह आलेख मुक्तिबोध ने 1954 में लिखा जिसका शीर्षक है 'अंग्रेज गए, परन्तु इतनी पूंजी क्यों ?' इस आलेख में मुक्तिबोध ने उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों में कितनी विदेशी पूंजी या इंग्लैण्ड और अमरीका की पूँजी का आँकड़ा प्रस्तुत किया है। आजादी के सात वर्ष के बाद के इस आलेख में मुक्तिबोध ने स्पष्ट कर दिया है कि समाजवादी नेहरु की आर्थिक नीतियाँ क्या थी ? जो लोग यह नारा देते थे कि भारत की जनता गाँवों में बसती है। उन गाँवों के ऊपर इस तरह की आर्थिक नीतियों का क्या प्रभाव

रहा ? आज़ादी के बाद या आज़ादी से पहले किसानों की वास्तविक यथास्थिति किसी से छिपी नहीं थी और 21 वीं सदी में किसानों की क्या स्थिति है ? यह भी किसी से छिपी नहीं है । इसके संदर्भ में सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है, "सामन्तवाद के प्रति भी भारत सरकार का रवैया ढुलमुल रहा है । बड़े सामंतों को जरूर उसने सीमित करने की चेष्टा की है किन्तु सामन्ती संबंधो के उन्मूलन की दिशा में वह गतिरोध का शिकार हो रही है । सामान्य कृषकों के हित में भारत सरकार कोई क्रान्तिकारी हल प्रस्तुत नहीं करती हाँ, उसने बुर्जुआ भू-स्वामित्व से सामन्ती भू-स्वामित्व को बदलने की चेष्टाएँ जरूर की हैं । सामान्य कृषक वर्ग जहाँ का तहाँ है ।"[33] विदेशी पूँजी और भारतीय कॉरपोरेट्स के प्रति सरकार के सकारात्मक रूख के कारण भारतीय किसानों की लगातार उपेक्षा की जा रही है । आज जम्मींदारी प्रथा नहीं है, लेकिन भारत में जम्मींदारों की कमी नहीं है । आज भारत में बड़े-बड़े कास्तकार यत्र-तत्र मिल जाएँगे । कार्ल मार्क्स ने ठीक ही लिखा है, "इंग्लैण्ड को हिंदुस्तान में दो महान कार्य करने हैं – एक ध्वंसात्मक काम, दूसरा पुनर्रचनात्मक । उसे पुराने एशियाई समाज को नष्ट करना है और एशिया में पश्चिमी समाज के लिए भौतिक आधार तैयार करना है ।"[34] कार्ल मार्क्स की इस बात से हमे पूर्णत: सहमत होना चाहिए । ब्रिटिश उपनिवेशवादी ताकतों ने इन दोनों ही कार्यों में बहुत हद तक सफलता पाई । उन्हीं की देन है कि आज हमें 'प्रत्यक्ष कर निवेश' इत्यादि जैसे शब्द आर्थिक क्षेत्रों में सुनाई पड़ते हैं । भारतीय समाज और संस्कृति को इस तरह से नष्ट किया गया और किया जा रहा है कि उसका अपना कोई समाज और संस्कृति ही न बचे ।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा संसार की बात करने से पहले आलोचक सुरेन्द्र चौधरी का रेणु के संदर्भ में एक कथन याद आता है, "रेणु की विचारधारा उनकी भावधारा से बनी थी । उन्हें विचारों से अपने भावजगत की संरचना करने की विवशता न थी । यही कारण था कि वे अमूर्त से सैद्धांतिक सवालों पर बहस नहीं करते थे । उनके विचारों का स्रोत कहीं बाहर –

पुस्तकीय ज्ञान में न था।''[35] इस कथन का पहला हिस्सा 'विचारधारा भावधारा से बनी थी।' इसको रेणु के संदर्भ में ही नहीं बल्कि हिंदी साहित्य में जब से विचारधाराओं की शुरूआत होती है तब से प्रत्येक साहित्यकार की विचारधारा भावधारा से ही निर्मित होती हुई जान पड़ती है। जैसे 1936 के बाद के साहित्यिक दौर को प्रगतिवादी दौर के नाम से जानते हैं। उस दौर में ऐसे तो बहुत सारे लेखक थे लेकिन कथा साहित्य में यशपाल और अज्ञेय महत्त्वपूर्ण लेखक थे। एक तरफ यशपाल 1958 के आस-पास 'झूठा सच' लिख रहे थे। वहीं अज्ञेय 1961 में 'अपने-अपने अजनबी' लिख रहे थे। एक उपन्यास में भारत विभाजन की त्रासदी को दिखाया गया और दूसरे उपन्यास में अजनबीपन को दिखाया गया। ऐसा भावधारा की भिन्नता के कारण ही हुआ। दोनों ही कथाकारों की विचारधारा में भी भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित की जा सकती है। इसलिए यह कथन रेणु के सन्दर्भ में होते हुए भी साहित्य, संस्कृति और राजनीतिक चिंतकों के उपर भी लागू होता है। यशपाल के सन्दर्भ में सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं – "लगभग तीस-पैतीस वर्षों के लेखन – काल में यशपाल को दो प्रकार के घटना-क्रमों से होकर गुजरना पड़ा है। इन दोनों प्रकार के घटनाक्रमों के केंद्र में भारत की आज़ादी है। आज़ादी भारतवर्ष के लिए एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय घटना है, मगर उसे अकेली घटना मानने की भूल हम नहीं करेंगे। वह एक पूरे क्रम और उसके विरोध के बीच की एक घटना है। घटनाक्रम का एक छोर हमें यशपाल के प्रारम्भिक लेखन के वर्षों में ले जाता है। ये वर्ष लेखकीय रचनाशीलता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। यह दूसरी बात है कि यशपाल की रचना दृष्टि इन्ही प्रभावों को आत्मसात करने और उनसे एक रूप होने की एक विराट चेष्टा है।''[36] यशपाल हिंदी साहित्य के संक्रमण के दौर के कथाकार हैं। उनकी रचनाओं में भारतीय मानव मूल्य के साथ-साथ आज़ादी के पहले और आज़ादी के बाद की भारतीय जन-मानस की चिंता दिखाई पड़ती है।

यशपाल के बाद हिंदी कहानी का दौर 'नई कहानी' के नाम से जाना जाता है। इस दौर पर बात करने से पहले सुरेन्द्र चौधरी का यह कथन विचारणीय है, "कहानीकार का उद्देश्य मानवीय व्यवहार का चित्रण होता है, उस व्यवहार के पीछे संवेदनीय प्रेरणाओं को उजागर करना होता है।"[37] यह बात सुरेन्द्र चौधरी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदी कहानी प्रक्रिया और पाठ' में कहा है। इस कथन के आलोक में सन् 54 से 60 तक की कहानियों पर विचार करेंगे । इस कथन का केन्द्रीय शब्द 'मानवीय व्यवहार' और 'संवेदनीय प्रेरणाओं' हैं । यह दौर स्वतन्त्रता के तुरंत बाद का दौर है। इस दौर के प्रमुख कहानीकार रेणु, मार्कंडेय, शिवप्रसाद सिंह, अमरकांत, शेखर जोशी, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव,हैं। इन कथाकारों में अधिकांश कथाकार स्वतन्त्रता आन्दोलन से प्रभावित थे परन्तु कथा साहित्य के विषय-वस्तु में कोई खास परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता है। जबकि ऊपर जिन संवेदनाओं की बात की गई है उन संवेदनाओं में परिवर्तन तो अवश्य हुए हैं। आज़ादी से जन मानस की आकांक्षाएं बढ़ी लेकिन उसको तत्काल प्रभाव से कथाकारों ने अपनी कथाओं का विषय-वस्तु नहीं बनाया। सुरेन्द्र चौधरी ने अपने एक लेख में लिखा है, "1947 में भारतीय आज़ादी के साथ साहित्य का स्वर बदला हो ऐसा मुझे मालूम नहीं पड़ता। आज़ादी के पूर्व साहित्य की स्थिति जैसी थी, आज़ादी के बाद भी लगभग वैसी ही बनी रही। इसका कारण मेरी दृष्टि में यह है कि साहित्य की चेतना भारतीय आज़ादी के बहुत पूर्व दूसरी दिशाओं में विकसित हो चुकी थी और आज़ादी ने उस विकास को आज भी पकड़ लिया हो इसमें संदेह है। भारतीय जनता के संघर्ष की चेतना को यदि हम समझने की चेष्टा करें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी। भारतीय जनता का संघर्ष दुहरा था, एक ओर वह भारतीय राजनीतिक आज़ादी के लिए संघर्ष कर रही थी तो दूसरी ओर आधुनिक जीवन में प्रवेश करने के लिए, उन्नत मानव-मूल्यों के लिए संघर्ष कर रही थी। आज़ादी के साथ उसका राजनीतिक संघर्ष तब भी चलता रहा, वर्ग –संघर्ष का एक सर्वथा नया स्तर पैदा हो गया। वर्ग-संघर्ष का स्वर साहित्य में आज़ादी के एक दशक से पहले

पुराना हो चुका था।''[38] सुरेन्द्र चौधरी की यह बात सीधे-सीधे प्रगतिशील आन्दोलन से जुडी हुई मालूम पड़ती है क्योंकि जिन मुद्दों को लेकर आज़ादी की लड़ाई लड़ी जा रही थी उन सारे मुद्दों को हिंदी साहित्य के प्रगतिशील आन्दोलन के दौर में देखा जा सकता है। चौधरी जी के इस कथन के अंतिम टुकड़े पर विचार करने पर प्रेमचंद की बात याद आती है 'साहित्य राजनीति के आगे-आगे चलने वाली मशाल है'।

नई कहानी आन्दोलन के दौर पर जब भी बात आती है तो अक्सर बात उस दौर की कहानियों की शिल्पगत या दूसरे तरीके की बातों पर आकर टिक जाती है। अगर इसके इतर उस दौर के कथाकारों के कथाओं के विषय-वस्तु पर नजर दौडाएँ तो पाते हैं कि एक भिन्न रूप में अधिकांश कथाकारों की 'समाजवादी विचारधारा' के पोषक होते हुए भी उनकी भावधारा अलग-अलग थी। जैसे अमरकांत की भावधारा और निर्मल वर्मा की भावधारा में भिन्नता स्पष्ट है। इसके बारे में सुरेन्द्र चौधरी लिखते है, "परिंदे का डॉ. मुखर्जी कहता है, वैसे हम सबकी अपनी-अपनी जिद होती है, कुछ लोग आखिर तक उससे चिपके रहते हैं। ... कभी-कभी मैं सोचता हूँ मिस लतिका, किसी चीज को जानना यदि गलत है तो जानबूझ कर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह चिपटे रहना, यह भी गलत है और कथन के साथ एक कहानी मेरे दिमाग में कौंधती है, अमरकांत की कहानी 'जिंदगी और जोंक' यह सरल योगपद नहीं है, यह मैं जानता हूँ। दोनों की जमीन अलग है। समतल पर संक्रमण आसन होता है। मगर जिंदगियाँ सम – असम तल पर विभाजित है, फिर भी मानसिक यात्रा में उन्हें लाँघना संभव है। जीवन अपने लिए कैसे-कैसे हेतु गढ़ लेता है ! बौद्धिक- अबौद्धिक !! रजुआ के लिए उसका अतीत रायपुर का बरई होने तक सीमित है।"[39] इन दोनों ही कहानियों में जिन अंतर्विरोधों की तरफ ध्यान दिलाते हैं उन अन्तर्विरोधों में कहीं न कहीं भावधारा भी शामिल है। रेणु, अमरकांत, मार्कंडेय, शेखर जोशी, एक ही दौर के कथाकार हैं लेकिन इनकी कहानियों

की विषय वस्तु अलग-अलग हैं। जैसे रेणु और मार्कंडेय की कहानियाँ अधिकांश आंचलिकता को लिए हुए है। वहीं अमरकांत की कहानियों में निम्न मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित चित्रण है और शेखर जोशी की कहानियों में पहाड़ी जीवन है। यह मूलतः भावधारा का ही अलगाव है ।

इसी दौर में हिंदी कहानी में सर्वप्रथम स्त्री कथाकारों ने भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। हालाँकि इन महिला कथाकारों को नई कहानी के कथाकार नहीं मानने के बावजूद इनकी उस दौर के कथा साहित्य में पर्याप्त सक्रियता हमें देखने को मिलती है और विषय – वस्तु के हिसाब से एक नया विषय – वस्तु भी है इनके पास। कृष्णा सोबती, उषा प्रियम्वदा और मन्नू भंडारी की कहानियाँ उन 'नई कहानी' लेखकों से तनिक भी कमजोर महसूस नहीं होती है। सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा है, "लेखकों की तुलना में लेखिकाएं अपनी रचना के संदर्भ में बयानबाजी से अपने को बचाती रहीं। कृष्णा सोबती ने 'मित्रो मरजानी', 'यारो के यार', 'बादलों के घेरे' आदि में विस्तारित कथात्मक ढाँचे के उपयोग से भीतर-बाहर के वातावरण को सघन बनाया था। ऐसा ही फैलाव उषा प्रियम्बदा की कहानियों में तो न था, पर इनकी कहानियों का रंग – स्थान अपने सीमित समाज के बाहर जाता था। 'वापसी' को हम एक अपवाद के रूप में ही देख सकते हैं। मन्नू ने छोटे फ्रेम में कहानियाँ लिखी थीं।"[40] हिंदी साहित्य में स्त्री स्वर हमें छायावाद के ही समय में महादेवी वर्मा के रचनाओं में सुनाई पड़ने लगी थी परन्तु हिंदी कहानी में पचास के दशक के उतरार्द्ध या साठ के दशक के पूर्वाद्ध में स्त्री स्वर पहली बार सामने आता है। सुरेन्द्र चौधरी के उपर्युक्त कथन के आधार पर शिल्प और विषय-वस्तु दोनों ही आधारों पर महिला कथाकारों की कहानियाँ कहीं भी कमजोर दिखाई नहीं पड़ती हैं फिर भी इस दौर की आलोचना की परिधि से बाहर हैं।

'नई कहानी' आन्दोलन के बाद हिन्दी कथा साहित्य में कहानी आन्दोलनों की भरमार दिखाई देती है जिसमें व्यक्तिगत अंतर्विरोध ही सर्वाधिक प्रबल कारक प्रतीत होता है। इसके बारे में युवा आलोचक उदयशंकर ने सुरेन्द्र चौधरी के लेखों को सम्पादित करने के क्रम में लिखा है, "प्रतिनिधि – विधा के बतौर कहानी एक बार पहले भी स्थापित हुई थी और 'नई कहानी आन्दोलन' का सूत्रपात हुआ था। 'नई कहानी आन्दोलन' के बाद आंदोलनों की भीड़ लग जाती है। बहुत दिनों तक इन 'आन्दोलनों की भीड़' में गुमशुदा कहानियाँ लिखी जाती रहीं । गनीमत है कि आज कोई 'आन्दोलन' खड़ा नहीं हो पा रहा है । आन्दोलनों की वैचारिकी-सैद्धातिकी गढ़ने वाली प्रतिभा, सामर्थ्य आज के लेखकीय संसार में नजर नहीं आ रहा है।"[41] इस बात को हम 1960 से लेकर आज तक एक हद तक लागू कर सकते हैं।

साठ के बाद के दशकों में हिंदी कहानी एक दूसरा मोड़ लेती है। इसी दौरान नक्सलबाड़ी आन्दोलन शुरू होता है । जिस तरह हिंदी कविता इस आन्दोलन से प्रभावित रही । वैसा प्रभाव हिंदी कहानी पर परिलक्षित नहीं होता है। "बंगाल में 1967 के आस-पास ही युवा पीढी की मानसिकता में परिवर्तन के तीखे लक्षण प्रकट हुए। नक्सलबाड़ी के विद्रोह की पृष्ठभूमि में जिस धारा का उदय हुआ उसमें एक-बार फिर भारतीय समाज के बुनियादी सामाजिक – आर्थिक ढांचे से जुड़ी वस्तुस्थिति के प्रति एक नाटकीय आकर्षण पनपा ... अकहानी के भीतर से जिस व्यर्थता और विडम्बनापूर्ण नियति की मानसिकता का जन्म हुआ था, उसके विरूद्ध एक सार्थक लड़ाई के लिए कहानीकार अपनी रचनात्मक तैयारी में लग गया ।"[42] सुरेन्द्र चौधरी के इस लेख का नाम 'उत्तरशती की कथा-यात्रा' है जिसमें नब्बे के दशक तक की कहानियों पर चर्चा है । इस अंश में वह अकहानी की सार्थकता और निरर्थकता की बात करते हैं।

80 से 90 के दशक में भारतीय राजनीति भी एक घुमाव ले चुकी थी और उसी के हिसाब से कथा साहित्य ने भी अपनी विषय-वस्तु बदली। वैश्विक स्तर पर तो इस दौर को

आर्थिक उदारीकरण के रूप में जाना जाता है, जबकि भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह दौर साम्प्रदायिक उभार का दौर है। इससे हिंदी कथाकार भी अछूते नहीं रहे। दूधनाथ सिंह, राही मासूम रज़ा, अब्दुल बिस्मिल्लाह इत्यादि कथाकारों ने अपनी कथाओं में इन मुद्दों को अपना विषय – वस्तु बनाया। यह दौर सोवियत संघ के विघटन के दौर के रूप में भी जाना जाता है। जिस घटना को हिंदी कहानीकारों ने अपनी कहानियों में खूब जगह दी। नागरिकता का संकट या तमाम तरीकों के संकट को भी इस दौर में देखा जा सकता है। इसी दौर में अस्मितावादी आंदोलनों की भी शुरूआत हुई। हालाँकि आलोचक सुरेन्द्र चौधरी इसके सन्दर्भ में बात नहीं करते जो उनकी सीमा महसूस होती है लेकिन बाकी मुद्दों पर चौधरी जी तल्लीनता से विचार करते हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य एक तरह से राजनैतिक, सामाजिक स्तर पर अधिक चेतनशील दौर महसूस होता है।

उत्तर औपनिवेशिकता और समकालीन हिंदी कहानी :

उपनिवेशों की मुक्ति का आन्दोलन 19 शताब्दी में आरंभ हुआ था परन्तु 1960 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र से पूरे वैश्विक स्तर पर उपनिवेश मुक्त राष्ट्र की अवधारणा विकसित हुई। ऐसे देश जिसके भौतिक सुखों का स्तर निम्न होता है उस देश को तीसरी दुनिया के देश के रूप में संबोधित किया गया। उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद के बारे में प्रसिद्ध केन्याई उपन्यासकार न्गुगी वा थ्योंगो के एक कथन के माध्यम से इस विषय को आगे बढ़ाने की कोशिश करूँगा। न्गुगी का कहना है कि, "साम्राज्यवाद हथियारों से हमला करने से पूर्व सांस्कृतिक आक्रमण करता है जो उपनिवेशों की जनता की संस्कृति के खिलाफ लम्बे समय तक जारी रहता है।"[43] साहित्य चूँकि संस्कृति से जुड़ा हुआ है इसलिए यह बात साहित्य पर भी लागू होती है। हिंदी साहित्य के बहुत बड़े हिस्से को उपनिवेशवादी प्रतिरोध का साहित्य कहा जाता है।

तथाकथित उपनिवेशों की मुक्ति के बाद भारत में कई तरह के वर्ग-संघर्ष शुरू हुए। इसके बारे में सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं- "साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति के लिए लम्बा संघर्ष करने के बाद जिन देशों को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिली उनके राष्ट्रीय-चरित्र और वर्ग चरित्र को लेकर गहरे राजनीतिक मतभेद आज की वामपंथी विचारधारा और पार्टियों में पाए जाते हैं।"[44] इस बात को चौधरी जी ने अपने लेख 'वामपंथ और साहित्य में संयुक्त मोर्चा' में उठाया हैं। 'गहरे राजनीतिक मतभेद आज की वामपंथी विचारधारा और पार्टियों में पाए जाते हैं।' इस पर विचार करते वक्त हमें सबसे पहले यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि 'वामपंथी पार्टियों और विचारधाराओं' में अन्तर्विरोध है और अंतर्विरोधों के कारण ही वामपंथी पार्टियों का विभाजन हमारे सामने आता है। लेकिन इन अंतर्विरोधों की आत्मा या जड़ों पर जब हम विचार करेगें तो

उसका निष्कर्ष शायद 'पूंजीवादी संस्कृति' ही निकलेगा। 20 वीं और 21 वीं सदी में पूँजी की ताकत ने शायद किसी को अपने जद में लेने से कोई गुरेज नहीं किया। जहाँ तक रही बात 'वर्ग-संघर्ष' के 'उत्पादन की शक्तियों पर समान अधिकार' की तो वह तब तक संभव नहीं हो पायेगा जब तक इस तरह का वर्ग संघर्ष जारी रहेगा।

हिंदी कथा साहित्य में नवउपनिवेशवादी संस्कृति का प्रतिरोध दिखाई पड़ता है। इसे लक्षित करते हुए सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं – "बुद्धि और व्यवहार के बीच निरंतर अकेला और अजनबी होता हुआ व्यक्ति एक ऐसी निर्वैयक्तिक व्यवस्था में घिर गया है कि उसे तोड़े बगैर वह फिर से अपनी पहचान उपलब्ध नहीं कर सकता। समकालीन कहानी की यही केन्द्रीय संवेदना है। भोक्ता व्यक्ति आज बुद्धि और व्यवहार के बीच आत्मविभाजित होकर जिस संत्रास का अनुभव कर रहा है, वह उसके लिए एक नैतिक चुनौती भी है। इस चुनौती का सामना न कर पाने की स्थिति में उसके पास बस एक ही रास्ता रह जायेगा, बौद्धिक आत्महत्या।"[45] संवेदनागत स्तर पर 'आत्म विभाजन ' नवउपनिवेशवादी संस्कृति की केन्द्रीय विशेषता रही है। जिसको समकालीन कहानीकारों ने बखूबी चित्रित किया। इस श्रेणी में गिरिराज किशोर, कामतानाथ, इत्यादि प्रमुख कथाकार हैं। इन कहानीकारों में एक अलग तरह का द्वंद का चित्रण देखने को मिलता है जिसको उदय प्रकाश की प्रसिद्ध कहानी 'मोहनदास' में देखा जा सकता है।

नवउपनिवेशवादी युग में नागरिकता का संकट पूरी दुनिया पर मंडरा रहा है। इस सन्दर्भ में सुरेन्द्र चौधरी ज्ञानरंजन की कहानी 'घंटा' के पाठ के सन्दर्भ में लिखते हैं- "नागरिकता का संकट जनतंत्र का ही संकट है। इस जनतंत्र के संकट के गिर्द कई क्रान्तिकारी लपटें पैदा हुईं पर ज्ञान को अपनी जेब में नहीं ले सकीं। ज्ञान ने क्रान्तिकारीयों (?) के तथाकथित सांस्कृतिक व्यवहार से अपनी दूरी 'घंटा' में बेहतर ढंग से और निर्णायक रूप में अपने को

साबित की है। क्रांति के बौद्धिक चेहरों में जो कुछ ज्ञान ने ढूंढा, मुखौटा उत्तर जाने पर बार-बार वह कुछ और साबित हुआ ।"[46] इस नवउपनिवेशवादी युग में हमलोग मतदान के अधिकारी होने को ही एक राष्ट्र का सच्चा नागरिक समझ बैठे हैं । इस युग में स्वतंत्र नागरिकता को हर तरीके से नियन्त्रित करने की कोशिश की गई जिसके बारे में न्गुगी वा थ्योंगो ने लिखा है – "आर्थिक और राजनीतिक नियन्त्रण के बीच चोली-दामन का साथ है। उपनिवेशवाद के अंतर्गत राजनीति नियन्त्रण का काम प्रायः औपनिवेशिक सत्ता के प्रतिनिधियों के जरिए अथवा गोरे शासकों द्वारा नियुक्त देशी प्रशासन के जरिए और बेशक औपनिवेशिक सेना और पुलिस की मदद से किया जाता था। नवऔपनिवेशिक अवस्था में यह नियन्त्रण एक दलाल पूंजीपति वर्ग के जरिये किया जाता था।"[47] समाज पर नियंत्रण का मुख्य आधार आर्थिक और राजनीतिक ही होता है जिसको प्रेमचंद से लेकर आज के कहानीकारों ने चित्रित किया। उदय प्रकाश की कहानी का उल्लेख ऊपर किया गया है उस कहानी में भी इस तरह का चित्रण मिल जायेगा।

ग्लोबल गाँव के नाम पर खनिज संपदा का दोहन और विस्थापन तीसरी दुनिया के देशों को साम्राज्यवादी देशों द्वारा या लूट की खुली छूट पूंजीपति दलालों द्वारा ही प्रदान की गई। इन साम्राज्यवादी देशों ने जो दमन की संस्कृति का विकास किया उसका प्रतिरोध हिंदी के कथाकारों ने भी किया। सुरेन्द्र चौधरी ने संजीव की कहानियों पर बात करते वक्त लिखा है – "संजीव की कहानी में एक वाक्य आता है, 'जुल्म की खिलाफत ही बहादुरी है और जरूरी नहीं है कि बहादुरी महज जीत का बायस बने उसका हार भी सिंगार है।' अतीत के खंडहरों से इतिहास को जगाने वाली, आज़ाद जातियों – समूहों के संघर्ष से प्रेरणा लेने वाली यह एक जीवित कथा है ।"[48] इस तरह के विषय- वस्तु को आधार बनाकर कथा लिखने वाले

कथाकारों में संजीव, सृंजय, उदय प्रकाश इत्यादि हैं। इन्हीं अर्थों में समकालीन कहानीकार अपने को प्रेमचंदीय परम्परा के कथाकार हैं।

प्रत्येक युग के अनेक चरण होते हैं। जैसे नवउपनिवेशवादी युग में एक दौर उदारीकरण का दौर था। इस दौर में मजदूरों, स्त्रियों, आदिवासियों की स्थिति अपने नाज़ुक दौर से गुजर रहा है। इन तीनों ही वर्ग को आज जिस तरह से समाज उपेक्षित किया जा रहा है उसी तरह से वे साहित्य में भी उपेक्षित हैं। इसका प्रमाण आज उत्तर औपनिवेशिक विमर्शों के नाम पर जिस तरह की साहित्य रचना की जा रही है उसकी जनता तक पहुच संभव नहीं हो पाई है। वैसे ही बहुत कम कहानियाँ हैं जो जनमानस पर कोई प्रभाव उत्पन्न करती हों। मज़दूर वर्ग पर लिखनेवाले कथाकार इसरायल को छोड़कर कोई नजर नहीं आ रहा। इसके बारे में सुरेन्द्र चौधरी लिखतें हैं – "मजदूर वर्ग पर लिखने वाले लेखक हिंदी क्षेत्र से गायब हो रहे हैं। जिन कुछ लोगों ने पहले इस वर्ग पर लिखा भी था, वे आज कुछ दूसरे विषयों की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। इसरायल की पुरानी कहानियों के अलावा किसी नए कहानी-संग्रह में मुझे इस प्रकार की कहानियाँ दिखाई नहीं पड़ी। कविताओं में मजदूरों पर लिखना तो हम कब का छोड़ चुके हैं। नाटकों में भी वर्गों की अपेक्षा व्यवस्था पर भार अधिक है। कुल मिलाकर साहित्य के क्षेत्र में विचारधारात्मक स्थिति और वर्गीय तत्वों की बनावट में अजीब असंगतियाँ हैं।"[49] ये तो बात मजदूरों की हुई। जो आज भारतीय समाज के हाशिए का समाज में सर्वाधिक दमित वर्ग है। इससे आज के साहित्य की वर्ग चरित्र का पता लगाना आसान होना चाहिए। इसी तरह के हालात भारतीय किसानों की भी है।

तीसरी दुनिया के देशों में उपभोक्तावादी संस्कृति को विकसित करने में ये नवसाम्राज्यवादी देश बहुत हद तक सफल हुए हैं इसका प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी 90 के दशक के बाद देखा जा सकता है। समकालीन हिंदी कहानी के संदर्भ में आलोचक सुरेन्द्र

चौधरी लिखते हैं- “समकालीन कहानियों में जो सबसे बड़ी और लाक्षणिक विशेषता की तरह पहचानी जाने वाली चीज है वह है उसकी वृहत्तर संश्लिष्टता । आधुनिकतावादियों ने समकालीन यथार्थ को सामाजिक अस्तित्व की चेतना से काट कर प्रस्तुत करते हुए आत्मसंप्रभ सत्य के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की थी तथा इसके लिए वे एक सौंदर्यशास्त्र भी गढ़ रहे थे किन्तु स्वयं सामाजिक परिस्थितियों ने उनके इस रचनात्मक प्रयास को पीछे ठेल दिया । इस अर्थ में सामाजिक यथार्थवाद की विजय ने बहुत सारी सम्भावित स्थितियों से हमें बचा लिया । पर यदि हम एक दूसरे छोर से फिर अपने सामाजिक यथार्थ को घेरना चाहे तो यह भी उतना ही अनुचित और इतिहास विरूद्ध होगा ।”[50]

सन्दर्भ सूची

1. सुरेन्द्र चौधरी, इतिहास संयोग और सार्थकता, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ 21

2. प्रणय कृष्ण : बया, अप्रैल-जून, 2011 (सम्पा. गौरीनाथ), 'एतिहासिक प्रक्रिया से संगती-असंगति खोजने वाले आलोचक', पृष्ठ-76

3. सुरेन्द्र चौधरी, इतिहास संयोग और सार्थकता, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ.26

4. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन: पृष्ठ.28

5. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5, सम्पादक : नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986 : पृष्ठ 192

6. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन: पृष्ठ 43

7. वही, पृष्ठ-52

8. वही, पृष्ठ-52

9. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5, सम्पादक : नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986 : पृष्ठ 428

10. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, पृष्ठ-58

11. सुरेन्द्र चौधरी, हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ 47

12. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, पृष्ठ 44

13. नामवर सिंह (2012), कहानी : नयी कहानी, पृष्ठ 73

14. वही, पृष्ठ.108

15. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, पृष्ठ.123

16. नामवर सिंह (2012), कहानी :नयी कहानी, पृष्ठ.72

17. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, पृष्ठ.126

18. वही, पृष्ठ.124

19. वही, पृष्ठ.128

20. वही, पृष्ठ.138

21. प्रेमचंद रचना-संचयन, सम्पादक : निर्मल वर्मा और कमल किशोर गोयनका, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली : पृष्ठ.219

22. उद्धृत, टेरी ईगलटन (प्र.सं. 2006), मार्क्सवाद और साहित्यालोचन, अंग्रेजी से अनुवाद: वैभव सिंह: आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), पृष्ठ. 25

23. वही, पृष्ठ.40

24. उद्धृत, वही, पृष्ठ.24

25. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, पृष्ठ.11

26. वही, पृष्ठ.12

27. सुरेन्द्र चौधरी, इतिहास संयोग और सार्थकता, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ .24

28. सुरेन्द्र चौधरी, हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ.193

29. वही, पृष्ठ.101

30. कार्ल मार्क्स भारत सम्बन्धी लेख, पीपुल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, अनु.- ओम प्रकाश संगल, (तीसरा संस्करण- 2009), पृष्ठ.62

31. इरफ़ान हबीब और नरेन सिंह राव की बातचीत : समयांतर,फरवरी, 2015 (अतिथि सम्पा.-कृष्ण सिंह), 'इतिहासकारों को खास नियमों और कायदों के मुताबिक चलना होता है' पृष्ठ-40

32. मुक्तिबोध रचनावली, खं- 6, सम्पादक : नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986 : पृष्ठ.61

33. सुरेन्द्र चौधरी, इतिहास संयोग और सार्थकता, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ.105

34. कार्ल मार्क्स भारत सम्बन्धी लेख, पीपुल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, अनु.- ओम प्रकाश संगल, (तीसरा संस्करण- 2009) : पृष्ठ.63

35. सुरेन्द्र चौधरी, इतिहास संयोग और सार्थकता, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ.173

36. वही, पृष्ठ.157

37. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन: पृष्ठ.134

38. सुरेन्द्र चौधरी, इतिहास संयोग और सार्थकता, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ .235

39. सुरेन्द्र चौधरी, हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ.26

40. वही, पृष्ठ.36

41. वही, पृष्ठ. IV (भूमिका से)

42. वही, पृष्ठ.29

43. भूमिका से न्गुगी व थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, (अनुवादक-आनन्दस्वरूप वर्मा दूसरा संस्करण) 2010 : पृष्ठ.1

44. सुरेन्द्र चौधरी, इतिहास संयोग और सार्थकता, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ.103

45. सुरेन्द्र चौधरी, हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ.91

46. सुरेन्द्र चौधरी (प्र.सं.1995), हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, पृष्ठ.162

47. न्गुगी व थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, (अनुवादक -आनन्दस्वरूप वर्मा दूसरा संस्करण) 2010 : पृष्ठ.113

48. सुरेन्द्र चौधरी, हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, पृष्ठ. 146

49. सुरेन्द्र चौधरी, इतिहास संयोग और सार्थकता, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ.115

50. सुरेन्द्र चौधरी, हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सम्पादक-उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009: पृष्ठ 133

उपसंहार

हिंदी कहानी का जन्म यथार्थवादी सामाजिक सरोकारों की बढ़ती साहित्यिक अभिव्यक्ति का नतीजा था। बीसवीं शताब्दी में क्रांतिकारी आंदोलन की शुरुआत भी हो चुकी थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में नरमपंथी विचारधारा के समान्तर एक गरमपंथी विचार स्पष्ट होने लगा था और भारतीय कांग्रेस से इतर क्रांतिकारी आंदोलन ने उग्र कार्रवाईयां शुरू कर दी थीं। अनेक राजनीतिक घटनाओं का भारतीय जन मानस पर गहरा असर दिखाई देने लगा था और ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध जनता में आक्रोश बढ़ने लगा था। कलकत्ता में सन 1906 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में स्वराज का प्रस्ताव पास हुआ। साथ ही औपनिवेशिक सत्ता का दमन भी तेज होता गया। इससे पहले से भी 19 वीं शताब्दी में ही अनेक समाज सुधार आंदोलन शुरू हो चुके थे जिनके साथ राष्ट्रवादी भावना का भी प्रचार-प्रसार हो रहा था। समाज सुधार आंदोलनों के कारण सांस्कृतिक पुनर्जागरण तो हुआ ही इसने भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना के विकास में भी योगदान दिया। मसलन डा. अम्बेडकर ने अस्पृश्यता जैसे सामाजिक मुद्दे को राजनीतिक भागीदारी के आधार पर हल करने पर बल दिया। इन परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ना लाजिमी था। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी साहित्य के इतिहास में जिन्हें आरंभिक कहानियों की श्रेणी में परिगणित किया जाता है वे प्रथमत: सरस्वती पत्रिका में छपीं। इस सरस्वती पत्रिका का हिंदी के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इस तथ्य को इस आलोक में देखा जाना चाहिए कि हिंदी भाषा का प्रचार-पसार राष्ट्रीय आंदोलन के एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में विकसित हुआ। 'प्रभा', 'प्रताप', 'मर्यादा' जैसी पत्रिकाओं के ओजपूर्ण नाम राष्ट्रीय आंदोलन की चेतना को ही प्रतीकित करते हैं तथा राष्ट्रीय चेतना के विस्तार में इन पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा हाथ

रहा है। यहाँ यह कहने का आशय यह है कि हिंदी कहानी के विकास में वही परिस्थितियां सहायक थीं जो राष्ट्रीय आंदोलन के लिए सहायक थीं | नए समय संदर्भों से समाज का आकलन-मूल्यांकन चल रहा था। इस बात की हम अनदेखी नहीं कर सकते कि अम्बेडकर जैसा एक सामाजिक योद्धा इसी राष्ट्रवादी चेतना के विस्तार के दौर में उत्पन्न हुआ और प्रेमचंद की कहानियों में दलित जीवन, 'टोकरी भर मिट्टी' में सामंतवाद, 'पंडित और पंडितानी' में स्त्री जीवन की मार्मिक विवशता का चित्रण संभव हो सका। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता आंदोलन को जन्म देती है और हिंदी कहानी में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से प्रतिरोध दर्ज होता दिखाई देता है।

उपर्युक्त बातें हिंदी कहानी की एक संक्षिप्त पृष्ठभूमि के बतौर की गई है। हिंदी कथा आलोचना खासकर कहानी आलोचना की असल शुरूआत साठ के दशक में होती है। इस दौर के महत्त्वपूर्ण आलोचक नामवर सिंह, सुरेन्द्र चौधरी, मार्कंडेय, देवीशंकर अवस्थी, राजेन्द्र यादव, धनंजय वर्मा, इत्यादि थे। हिंदी कहानी आलोचना पर कार्य करते वक्त नामवर जी की यह बात अक्सर जेहन में आती रही कि 'कहानी पढ़ी जाती है मनोरंजन की तरह और आलोचित होती है शिल्प की तरह।' इस बात को हम कहानी के प्रारम्भिक युग पर लागू करें तो आसानी से लागू हो सकती है क्योंकि हिंदी कहानी की प्रारम्भिक दशक की कहानियों पर जब भी कोई आलोचक विचार करता है तो उसके सामने प्रमुखत: तीन प्रश्न होते हैं – हिंदी कहानी की परम्परा क्या है ? हिंदी की प्रथम कहानी कौन सी है ? और कहानी को क्या माना जाये रचना या मनोरंजन ? इन प्रश्नों से टकराए बिना कथा आलोचना आगे नहीं बढ़ती दिखती हैं और इस संदर्भ में कोई -न-कोई स्थापना जरूर प्रस्तुत करती हैं। जैसे आलोचक सुरेन्द्र चौधरी लिखते हैं 'वस्तुतः सामाजिक वास्तविकता कहानी का उत्स है।' यह बात सही है क्योंकि हिंदी कहानी आज भी 'सामाजिक यथार्थ' से जुड़कर ही आलोचित होती है। परन्तु

चौधरी जी की आलोचना में जाने-अनजाने में शिल्प भी अपने महत्त्व को प्रकट कर देता है ('इसकी सामान्यत: दो विधियाँ कथा-साहित्य के शिल्प में सामान्यत: स्वीकृत हुई हैं- पहली, मुख्य पात्रों की तत्कालिक परिस्थिति के रूप में, दूसरी, पात्रों की परस्पर अंतर्क्रिया द्वारा उसके स्वरूप का संकेत ।') प्रथम कहानी या प्रेमचंद और अज्ञेय (खासकर प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों) की रचना प्रक्रिया पर जब वे बात करते हैं तो स्पष्ट परिलक्षित होता है। चौधरी जी कथा के पाठ को महत्त्व देते हैं । किसी भी रचना का पुनर्पाठ उसके ऐतिहासिक और भौगोलिक परिप्रेक्ष्य में होना चाहिए परन्तु चौधरी जी पाठ को 'कथा के मर्म' तक पहुँचाने तक ही मददगार मान या उसमें चित्रित समाज को विश्लेषित कर ही छोड़ देते मालूम पड़ते हैं।

पचास के दशक से भारतीय यथार्थ बदल रहा था। इस यथार्थ को व्यक्त करने का सबसे बड़ा साहित्यिक माध्यम कहानी थी। आज़ादी के साथ देश का संदर्भ बदल रहा था। 'नई कविता' अस्तित्व में पहले ही आ चुकी थी। इन साहित्यिक-सामाजिक परिस्थितियों में 'नई कहानी आन्दोलन' की शुरूआत होती है ऊपर उल्लेखित आलोचक मुख्यतः इसी दौर के आलोचक हैं। इस दौर में भी पहली कहानी की भांति पहली 'नई कहानी' की खोज शुरू होती है जिसमें चालीस से साठ के दशक ('कफन' से 'एक पति के नोट्स') तक की कहानियों को रखा जाता है। पहली कहानी को लेकर जो विवाद है वह वहाँ तक तो ठीक है, क्योंकि एक नई विधा की शुरूआत हो रही थी परन्तु पचास के दशक तक आते-आते हिंदी कहानी एक प्रौढ़ रूप ग्रहण कर लेती है और जिस सामाजिक यथार्थ या रोमांटिक प्रभावों से कहानियाँ लिखी जा रही थीं उससे भिन्न कोई आधार प्राप्त हुआ हो ऐसा कुछ नहीं दिखता है जिसको सुरेन्द्र चौधरी ने भी अपनी कथा आलोचना में पर्याप्त स्थान दिया है । चौधरी जी की आलोचना इस दौर की आलोचना में इसलिए भी मायने रखती है कि उन्होंने मुक्तिबोध, रेणु और अमरकांत जैसे महत्त्वपूर्ण कथाकारों से पाठकों को परिचित कराया है। साठ के दशक के

बाद विभिन्न कहानी आंदोलन जब शुरू होते हैं उस पर चौधरी जी जोर नहीं देते हैं। यह बात तो सही है कि व्यक्तिगत या वैचारिक टकराहटों के बीच ये आन्दोलन शुरू होते हैं, परन्तु वह कौन- सी टकराहट थी ? इस पर भी चौधरी जी को विचार करना चाहिए था। उसके बाद का दौर यानी नब्बे के दशक में शुरू हुए अस्मितावादी आंदोलनों और उससे जुड़ी कथाओं पर उन्होंने विचार नहीं किया है। जबकि इस दशक में इन आंदोलनों का इतना गहरा प्रभाव रहा कि कोई भी आलोचक अछूता नहीं रहा। इस दौर तक तो चौधरी जी अपने लेखन कार्य में सक्रिय थे।

आधार ग्रन्थ

1. सुरेन्द्र चौधरी हिन्दी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1995
2. इतिहास संयोग और सार्थकता , सुरेन्द्र चौधरी, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009
3. हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सुरेन्द्र चौधरी, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009
4. हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सुरेन्द्र चौधरी, सम्पादक- उदयशंकर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2009

सहायक ग्रन्थ

5. अमरकांत (प्र.सं.2008), संकलित कहानियाँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली
6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (2013), हिन्दी साहित्य का इतिहास, अनुपम प्रकाशन, पटना
7. कार्ल मार्क्स भारत सम्बन्धी लेख, पीपुल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, अनु.- ओम प्रकाश संगल, (तीसरा संस्करण), 2009
8. जे॰ वर्ग इसेंविन, कहानी क्या है , अंग्रेजी से अनुवाद, नारायण कुमार, देवीशंकर अवस्थी (सम्पा.), साहित्य विधाओं की प्रकृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

9. जैनेन्द्र रचनावली,खण्ड-4, सम्पादक : निर्मला जैन (सह सम्पा.-प्रदीप कुमार), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,(प्र.सं.)2008
10. 23 हिंदी कहानियाँ, सम्पादक :जैनेन्द्र कुमार,लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
11. नामवर सिंह (2012), कहानी :नयी कहानी, लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद
12. टेरी ईगलटन (प्र.सं. 2006), मार्क्सवाद और साहित्यालोचन,अंग्रेजी से अनुवाद: वैभव सिंह: आधार प्रकाशन,पंचकूला, (हरियाणा)
13. न्गुगी व थ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, (अनुवादक –आनन्दस्वरूप वर्मा दूसरा संस्करण- 2010
14. फ्रैंक ओ' कोन्नोर, कहानी: स्वरूप और अंतर्वस्तु, अंग्रेजी से अनुवाद: आनन्द स्वरूप वर्मा और हरभगवान मेंहदीरत्ता, देवीशंकर अवस्थी (सम्पा), साहित्य विधाओं की प्रकृति, राधाकृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली,
15. प्रेमचंद रचना-संचयन, सम्पादक : निर्मल वर्मा और कमल किशोर गोयनका, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
16. प्रतिनिधि कहानियाँ, यशपाल, राजकमल,नई दिल्ली (प्र.सं.)1997
17. मुक्तिबोध रचनावली,सम्पादक : नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986
18. मैनेजर पाण्डेय (प्र. सं. 1974), साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला
19. मार्कण्डेय (2013), हिंदी कहानी: यथार्थवादी नज़रीया, आंनदप्रकाश (सम्पा), भूमिका से, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,
20. रेणु रचना-संचयन, सम्पादक : भारत यायावर,साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

पत्र-पत्रिकाएँ

1. उद्भावना : सम्पादक – अजेय कुमार, सम्पादक मंडल- रामप्रकाश त्रिपाठी, रमन मिश्र, हरियश राय, नई दिल्ली, अंक -28,
2. पहल : सम्पादक – ज्ञानरंजन, राजकुमार केसरवानी, गाज़ियाबाद, अंक-97
3. समयांतर : सम्पादक – पंकज बिष्ट, कृष्ण सिंह, नई दिल्ली, फरवरी;2015